अग्निपुराण का
काव्यशास्त्रीय भाग

अग्निपुराण का काव्यशास्त्रीय भाग

(हिन्दी-अनुवाद-सहित)

सम्पादक तथा अनुवादक

रामलाल वर्मा शास्त्री एम. ए.

प्राक्कथन

डॉ० सत्यदेव चौधरी एम. ए., पी-एच. डी.

हिन्दी-विभाग

हंसराज कॉलेज, दिल्ली

हिन्दी-अनुसंधान-परिषद्, दिल्ली विश्वविद्यालय दिल्ली के निमित्त

नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली

द्वारा प्रकाशित

प्रकाशक :
नेशनल पब्लिशिंग हाउस,
६६, दरियागंज, दिल्ली-७

प्रथम संस्करण :
फरवरी १६५६

मूल्य :
३·००

मुद्रक :
प्र भा त प्रे स
नौचन्दी, मेरठ।

हमारी योजना

'अग्निपुराण का काव्यशास्त्रीय भाग' हिन्दी अनुसन्धान परिषद् ग्रन्थ-माला का पन्द्रहवाँ ग्रन्थ है। हिन्दी अनुसन्धान परिषद्, हिन्दी विभाग दिल्ली विश्वविद्यालय की संस्था है जिसकी स्थापना अक्तूबर सन् १९५२ में हुई थी। परिषद् के मुख्यतः दो उद्देश्य हैं— हिन्दी वाङ्मय-विषयक गवेषणात्मक अनुशीलन तथा उसके फलस्वरूप प्राप्त साहित्य का प्रकाशन।

अब तक परिषद् की ओर से अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का प्रकाशन हो चुका है। प्रकाशित ग्रन्थ दो प्रकार के हैं—एक तो वे जिनमें प्राचीन काव्य-शास्त्रीय ग्रन्थों का हिन्दी रूपान्तर विस्तृत आलोचनात्मक भूमिकाओं के साथ प्रस्तुत किया गया है, दूसरे वे जिन पर दिल्ली विश्वविद्यालय की ओर से पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की गई है। प्रथम वर्ग के अन्तर्गत प्रकाशित ग्रन्थ हैं—'हिन्दी काव्यालंकार-सूत्र', 'हिन्दी वक्रोक्ति जीवित', 'अरस्तु का काव्यशास्त्र' तथा 'हिन्दी काव्यादर्श'। प्रस्तुत ग्रन्थ इसी वर्ग का पाँचवाँ प्रकाशन है। 'अनुसन्धान का स्वरूप' पुस्तक में अनुसन्धान के स्वरूप पर गण्यमान्य विद्वानों के निबन्ध संकलित हैं जो परिषद् के अनुरोध पर लिखे गए थे। द्वितीय वर्ग के अन्तर्गत प्रकाशित ग्रन्थ हैं—(१) मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ, (२) हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास, (३) सूफीमत और हिन्दी साहित्य, (४) अपभ्रंश साहित्य, (५) राधावल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य, (६) सूर की काव्य-कला (७) हिन्दी में भ्रमरगीत काव्य और उसकी परम्परा, तथा (८) मैथिलीशरण गुप्त : कवि और भारतीय संस्कृति के आख्याता।

परिषद् की प्रकाशन योजना को कार्यान्वित करने में हमें हिन्दी की प्रसिद्ध प्रकाशन-संस्थाओं का सक्रिय सहयोग प्राप्त होता रहा है। इन सभी के प्रति हम परिषद् की ओर से कृतज्ञता ज्ञापन करते हैं।

—नगेन्द्र
अध्यक्ष
हिन्दी अनुसन्धान परिषद्

दिल्ली विश्वविद्यालय,
दिल्ली।

परिशिष्ट (ख)
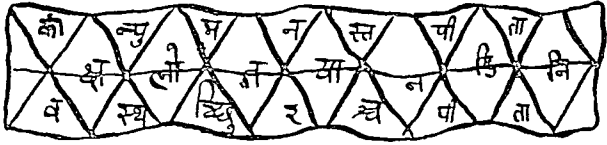
पादगोमूत्रिका बन्ध

मुरजबन्ध
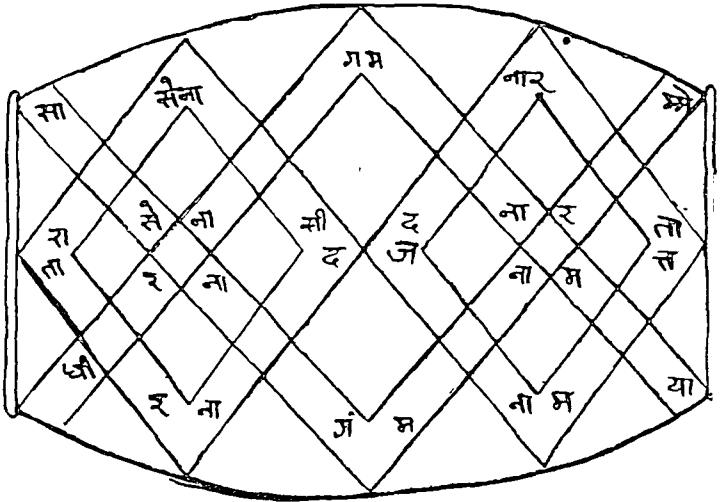
सा सेना गमनारम्भे रसेनासीदनारता ।

तारतादजना मत्तधीरनागमनामया ॥
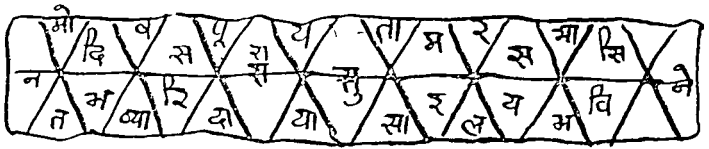
अर्ध गोमूत्रिका

अष्टदलपद्म बन्ध

याश्रिता पावनतया यातनच्छिदनीचया ।
याचनीया धिया माया यानायासंस्तुता श्रिया ॥

अर्ध भ्रम

म	नो	भ	व	त	वा	नी	क
नो	द	या	य	न	मा	नि	नी
भ	या	द	मे	या	मा	मा	वा
व	य	मे	नो	म	या	न	त
त	न	या	म	नो	मे	य	व
वा	मा	मा	या	मे	द	या	भ
नी	न	मा	न	य	या	द	नो
क	नी	वा	त	व	भ	नो	म

प्राक्कथन

अग्निपुराण को भारतीय और पाश्चात्य विद्वानों ने एक स्वर से 'भारतीय ज्ञान कोष' की गौरवान्वित संज्ञा से विभूषित किया है। इस ग्रन्थ की यह विशिष्टता अग्निपुराण के काव्यशास्त्रीय भाग (अध्याय ३३७–३४७) पर भी घटित होती है। इन ११ अध्यायों में काव्यस्वरूप, रस, गुण, दोष, रीति और अलंकार के अतिरिक्त नाट्यविधान पर भी प्रकाश डाला गया है। यह निरूपण विवेचनात्मक एवं व्याख्यात्मक न होकर संग्रहात्मक है। इस भाग में अपने समय तक प्रचलित उपर्युक्त काव्याङ्गों के अनेक भेदोपभेदों की विस्तृत सूचियाँ प्रस्तुत की गई हैं। जिनमें से अधिकतर का स्वरूप निर्देश भी नहीं किया गया तथा उदाहरण और तदुपरान्त समन्वय निर्देश द्वारा किसी को भी सुबोध रूप में नही दिया गया। फिर भी इन भेदोपभेद की उल्लेखनीय विशेपता यह है कि ये अधिकांशतः नूतन है, जिनका नामोल्लेख तक अन्य काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं होता— भोजदेव का 'सरस्वती कण्ठाभरण' अवश्य इसका अपवाद है, किन्तु यह ग्रन्थ भी इस दिशा में अग्निपुराण का ही ऋणी प्रतीत होता है। वस्तुतः देखा जाय तो इस विशेषता के बल पर ही अग्निपुराण का यह भाग 'ज्ञान कोष' नाम से भूषित होने का अधिकारी ठहरता है। ज्ञान कोष का कर्तव्य जितना नाम-निर्देश करना है उतना स्वरूपाख्यान करना नहीं है।

संस्कृत की काव्यशास्त्रीय परम्परा में अग्निपुराण की देन अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। यह ग्रन्थ प्राचीन और अर्वाचीन काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों के मध्य एक शृंखला का कार्य करता है। भोजदेव का शृंगार-महत्त्व-निरूपक स्थल अग्निपुराण के इस स्थल से मेल खाता है। जैसा कि हम पहले कह आए है भोजदेव द्वारा प्रस्तुत कतिपय भेदोपभेद अग्निपुराण से लिए गए प्रतीत होते हैं। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने दो-एक स्थलों पर इसी ग्रन्थ

को अत्यन्त समादरपूर्वक उद्धृत किया है और इन सबसे बढ़कर वैज्ञानिक अनुसन्धान के इस युग में अग्निपुराण के इस भाग की महत्ता इस तथ्य में निहित है कि अनुसन्धाता के सम्मुख भारतीय काव्यशास्त्रियों की सूक्ष्म पर्यवेक्षण-शक्ति एवं वर्गीकरण-प्रियता एक खुली पुस्तक के रूप में आ उपस्थित होती है, तथा वह अग्निपुराण से परवर्ती न केवल संस्कृत के अपितु भारत की अन्य भाषाओं के भी काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों की वर्ण्य-सामग्री के स्रोत-निर्देश करने में अग्निपुराण की सहायता लेने को भी बाध्य हो जाता है। किन्तु इधर अन्य अनेक प्राचीन ग्रन्थों के समान प्रकाशित होते हुए भी अग्निपुराण सुलभ न था। वी० आई० सीरीज़ आनन्दाश्रम पूना तथा वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई द्वारा प्रकाशित संस्करण अब केवल बड़े बड़े नगरों के बड़े बड़े पुस्तकालयों में ही उपलब्ध हैं। गुरुमण्डल ग्रन्थमाला कलकत्ता द्वारा सद्यः सन् १९५७ में प्रकाशित अग्निपुराण इस ग्रन्थ के निर्माणकाल से पूर्व सुलभ न था। अग्नि-पुराण पर श्री एम० एन० दत्त द्वारा प्रस्तुत एक अनुवाद भी अवश्य प्रकाशित हुआ। पर एक तो वह अंग्रेजी में है और दूसरे वह भी अप्राप्य सा है। जहाँ तक इस ग्रन्थ के काव्य-शास्त्रीय भाग का सम्बन्ध है, वह विद्वानों एवं उच्च कक्षा के छात्रों विशेषतः संस्कृत और हिन्दी के छात्रों के लिए समान रूप से अत्यन्त उपयोगी है।

इस उपयोगिता को ध्यान में रखकर इस भाग का राष्ट्रभाषा हिन्दी में अनुवाद सहित प्रकाशन आवश्यक समझा गया। श्री रामलाल वर्मा शास्त्री ने जब डॉ० नगेन्द्र, अध्यक्ष हिन्दी विभाग दिल्ली विश्वविद्यालय दिल्ली, के सम्मुख इस कार्य को सम्पन्न करने के लिए अपनी इच्छा प्रकट की तो डॉ० साहब ने विषय की उपयोगिता तथा वर्मा जी की योग्यता को देखते हुए अपनी स्वीकृति दे दी। वर्मा जी ने इस कार्य का निर्वाह अत्यन्त मनोयोग के साथ सफलता-पूर्वक किया है। उन्होंने मूल-पाठ को यथावत् एवं अत्यन्त स्वच्छ रूप में प्रस्तुत करने का पूर्ण प्रयास किया है। यह अनुवाद सरल होते हुए भी विषयानुकूल गांभीर्य के साथ प्रतिपादित हुआ है। संदिग्ध स्थलों के अनुवाद के लिए इन्होंने अधिकारी विद्वानों की चरण-छाया तले बैठकर संदेह-निवृत्ति की है। फिर भी कतिपय स्थल रह गए हैं, जिनका अनुवाद सन्तोषजनक नहीं हो पाया—इस का मुख्य कारण यह है कि ये स्थल खण्डित एवं अशुद्ध रूप से प्राप्य हैं। फिर भी ऐसे स्थलों का भावानुवाद कर दिया गया है इसके सिवा और अवलम्ब भी

क्या था ? इसके अतिरिक्त प्रस्तुत ग्रन्थ की भूमिका भी अनूदित भाग पर पर्याप्त प्रकाश डालती है। इस कार्य से अनुवादक को एक लाभ यह भी हुआ है कि उनकी रुचि काव्यशास्त्रीय क्षेत्र की ओर उन्मुख हो गई है, परिणामतः अब वे 'हिन्दी काव्यशास्त्र में शृंगार-रस-विवेचन' विषय पर अनुसन्धान कार्य से संबद्ध सामग्री-संचयन कर रहे हैं। मैं उनकी पूर्ण सफलता एवं अभिवृद्धि का इच्छुक हूँ।

सत्यदेव चौधरी
एम० ए०, पी-एच० डी०,
हिन्दी विभाग,
हंसराज कॉलेज, दिल्ली।

एफ, ११/१२ मॉडल टाउन,
दिल्ली–९
१. १. १९५९

विषय सूची

भूमिका

मूल पाठ और अनुवाद

परिशिष्ट

भूमिका

१. पुराण

भारतीय साहित्य में पुराण अपना विशि
संस्कृति और परम्परा को रोचक और सर
पहुँचाने का श्रेय इसी साहित्य को है। यह साहित्य भारतीय संस्कृति का प्राण, हिन्दूधर्म का मूलाधार तथा इतिहास का अमूल्य कोष है। भारतीय परम्परा में, वेद शास्त्रादि की तुलना में इस साहित्य के प्रति श्रद्धा भी कुछ कम नहीं रही जो पुराण-साहित्य से अनभिज्ञ एक वेदज्ञ को भी विचक्षण मानने को प्रस्तुत नहीं है।[1]

पुराण-साहित्य की विषय-सामग्री को पाँच रूपों में विभक्त किया गया है। सृष्टि का आरम्भ, प्रलय, वंश-विस्तार, सृष्टि का काल-निर्णय, विविध ऋषियों एवं राज-वंशों का वर्णन।[2] पर पुराण इन पाँच रूपों तक ही सीमित नहीं रहे। कुछ एक पुराण इन पाँच रूपों को पूरा नहीं करते और अधिकांश में यह विषय-विविधता उक्त सीमा को लाँघ गई है।

पुराणों की संख्या अठारह है—ब्रह्म, पद्म, विष्णु, शिव, श्रीमद्भागवत, वायु, नारदीय, अग्नि, ब्रह्मवैवर्त, वराह, स्कन्द, मार्कण्डेय, वामन, कूर्म, मत्स्य, गरुड़, ब्रह्माण्ड, देवी भागवत। यद्यपि यह संख्या निर्विवाद नहीं है तब भी यहाँ इस विवाद के लिए अवसर नहीं है। इन सब पुराणों में से भागवत पुराण की महत्ता अधिक स्वीकृत की गई है। कारण स्पष्ट है, यह पुराण धार्मिक दृष्टिकोण से अधिक महत्त्वपूर्ण है।

२. अग्नि पुराण

प्रस्तुत प्रबन्ध का विषय अग्नि पुराण का काव्यशास्त्रीय भाग है। अतः इस पुराण के सम्बन्ध में अन्य विद्वानों के विचारों से भी अवगत होना

---

१. यो विद्याच्चतुरो वेदान्सांगोपनिषदो द्विजः।
न चेत्पुराणं संविद्यान्नैव स स्याद्विचक्षणः।
(एन्श्यंट इण्डियन हिस्टॉरिकल ट्रेडीशन १)

२. सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंशानुचरितं चैव पुराणं पंचलक्षणम्॥

आवश्यक है। अन्य विषयों की तरह पुराणों पर भी, सर्वप्रथम पाश्चात्य विद्वानों ने वैज्ञानिक दृष्टि से गवेषणा प्रस्तुत की है। इस पुराण के सम्बन्ध में उनके विचार अवेक्षणीय हैं—

१. डा० विल्सन के अनुसार अग्नि पुराण एक महत्त्वपूर्ण रचना है। इसमें संग्रहीत सामग्री यद्यपि प्राचीन है, पर इसका संकलन विविध कालों में बहुत देर तक होता रहा है।[1]

२. श्री मेक्डोनल ने इस पुराण को उपेक्षा की दृष्टि से देखा है, उनके अनुसार यह पुराण महत्त्वहीन है और महाभारत तथा हरिवंश पुराण से गृहीत सामग्री पर आधृत है।[2]

३. डा० विण्टर-नित्ज के अनुसार अग्नि पुराण एक विश्व-कोष है, अर्थात् भारतीय वाङ्मय मे व्याप्त प्रत्येक विषय का समावेश इस पुराण में किया गया है।[3] उदाहरणार्थ, अग्नि पुराण मे व्याकरण, सुश्रुत का औषधज्ञान, शब्दकोष, काव्य-शास्त्र, ज्योतिष् आदि विषयों पर प्रचुर एवं उपादेय सामग्री संगृहीत है।

४. श्री एफ० ई० पार्जिटर ने इस पुराण के बारे में लिखा है कि इसमें वंश-परम्परा से सम्बद्ध सामग्री उपलब्ध होती है और इसमें 'मत्स्य पुराण' की परम्परा का अनुसरण है।[4]

५. प्रसिद्ध भारतीय विद्वानों में श्री बलदेव उपाध्याय[5] तथा श्री वरदाचार्य[6] ने इस रचना का महत्त्व 'विश्व-कोष' के रूप में स्वीकार किया है।

इस प्रकार इस पुराण के सम्बन्ध में उपर्युक्त विद्वानों के विचारों का निष्कर्ष यह है:

(१) यह रचना 'विश्व-कोष' के रूप में है।

---

१. विष्णु पुराण की भूमिका (अग्नि पुराण) एम० एन० दत्त पृ० ५।
२. हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर पृ० ३००।
३. ए हिस्ट्री ऑफ इंडियन लिटरेचर प्रथम भाग पृ० ५६६।
४. एन्श्यंट इंडियन हिस्टोरिकल ट्रेडीशन पृ० ८०।
५. संस्कृत साहित्य का इतिहास पृ० ५१।
६. हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर पृ० ८५।

(२) इस पुराण में विविध विपयों का संकलन विविध कालों में हुआ है।

(३) इसके लेखक का उद्देश्य इसमें विविध विषयों को संग्रहीत करके साधारण पाठकों का हित-सम्पादन करना था।

(४) यद्यपि पाश्चात्य विद्वानों ने इसे अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं माना, तब भी वे इसके प्रति उपेक्षा भाव न प्रकट कर सके।

३. अग्नि पुराण का लेखक

भारतीय प्राचीन परम्परा के अनुसार महर्षि वेदव्यास को ही अठारह पुराण, महाभारत, गीता आदि ग्रन्थों का कर्त्ता माना गया है, पर आधुनिक अनुसधान के बल पर इन्हे पुराणों का मूल कर्त्ता न माना जाकर सकलनकर्त्ता ही माना जाता है। प्रस्तुत पुराण का लेखक कौन है इस प्रश्न का उत्तर संकेत रूप में ग्रन्थारम्भ में ही मिल जाता है। एक बार शौनकादि ऋपियों ने सूत से कहा कि आप हमे ऐसी सार वस्तु का उपदेश करें जिसके जानने से हम सर्वज्ञ हो जावें। महर्पि सूत ने प्रत्युत्तर में अतिसारवान् परा-अपरा नामक दो विद्याओं की चर्चा की जो उन्होंने वदरिकाश्रम में महर्पि व्यास से श्रवण की थीं। महर्पि व्यास ने वसिप्ठ से तथा वसिप्ठ ने अग्निदेव से इन विद्याओं को ग्रहण किया था।[1]

इस कथन से स्पष्ट है कि परा—ब्रह्मविद्या, अपरा—वेद, वेदांगादि विद्या का ज्ञान महर्पि सूत को प्राचीन दीर्घ ऋपि-परम्परा से ही प्राप्त हुआ। इसके सर्वप्रथम वक्ता अग्निदेव हैं, अतः इन्हे ही इस पुराण का लेखक माना जाना चाहिये। पर फिर भी समस्या का अन्त यहीं नहीं हो जाता, क्योंकि अग्निदेव तो इस परा और अपरा विद्या के वर्णयिता मात्र हैं न कि लेखक। इधर मत्स्य और स्कन्द पुराण अग्नि पुराण का परिचय इस प्रकार देते हैं :—

"ईशान कल्प सम्बन्धी जो ज्ञान अग्निदेव ने वसिप्ठ को कहा था अग्नि पुराण उसी का प्रकाश करता है।"[2]

इन कथनों से भी यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि अग्निदेव ने इसे

---

१. अग्नि पुराण; अध्याय १।१ से १६ तक।

२. यत्तदीशानकं कल्पं वृत्तान्तमधिकृत्यका।
वसिष्ठायाग्निना प्रोक्तं आग्नेयं प्रकाशते॥
[स्टडीज इन दि पौराणिक रेकार्ड्स ऑन हिन्दू रीतीज एंड कस्टम्स; पृष्ठ १३४]

कहा है, लिखा नहीं। संभव है बाद में किसी व्यास नामक अथवा उपनामक व्यक्ति ने इसे लिखा हो। वस्तुतः अग्नि पुराण अन्य पुराणों के समान संग्रह-ग्रन्थ है न कि स्वतन्त्र ग्रन्थ। सत्य तो यह है कि किसी एक व्यक्ति के लिए, इतने विभिन्न विषयों का सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर उन्हें लेखबद्ध कर सकना असम्भव है, यद्यपि भारतीय पूर्वजों के लिए असम्भव नहीं है, पर कठिन अवश्य है। यही कारण है कि श्री एस० के० डे ने इस पुराण को अज्ञात लेखक की रचना कहा है।[1]

निष्कर्ष यह कि—

(१) अग्नि पुराण की वर्ण्य-सामग्री का सर्व-प्रथम उपदेष्टा अग्निदेव माना गया है।

(२) पर इस ग्रन्थ व लेखक के विषय में निश्चित रूप से कुछ कह सकना कठिन है, यद्यपि जनश्रुति के आधार पर व्यास को ही इसका लेखक अथवा संकलयिता माना जाता है।

४. समय

पुराणों के रचना-काल के सम्बन्ध में आधुनिक अन्वेषक एकमत नहीं हैं। भारतीय ऋषि-परम्परा में विश्वास रखनेवाले पुरातनवादी तो पुराणों को अनादि अथवा वेदों के बाद महर्षि व्यास-रचित मानते हैं, पर आधुनिक अनुसंधाता उनसे सहमत नहीं हैं। इस सम्बन्ध में उनकी गवेषणाओं का निष्कर्ष इस प्रकार है:—

(१) डा० विण्टर-नित्ज़ ने इस पुराण के काल-निर्धारण की समस्या का उल्लेख करते हुए कहा है, 'इस महत्त्वपूर्ण कोष की अथवा इसके विभिन्न भागों की रचना कब हुई, यह कहना अत्यन्त कठिन है। विशेषत: ऐसी स्थिति में जबकि इसमें परस्पर विभिन्न एवं विरोधी विषयों का समावेश है'।[2]

(२) डा० विल्सन इस पुराण के विविध विषयों की रचना तथा संकलन विभिन्न कालों से संबद्ध मानते हैं।[3]

(३) श्री एम० एन० दत्त इस पुराण के समय का विवेचन प्रस्तुत करते

---

१. संस्कृत पोइटिक्स, भाग दूसरा, पृष्ठ २५४।
२. हिस्ट्री ऑफ् इंडियन लिटरेचर भाग १, पृष्ठ ५६६।
३. विष्णु पुराण की भूमिका (अ. पु. एम. एन. दत्त), पृष्ठ ६।

हुए निष्कर्षरूपेण कहते हैं कि यह कहना अत्यन्त कठिन है कि यह विश्वकोष कब लिखा गया, पर यह तथ्य निर्विवाद है कि यह रचना मुसलमानों के आक्रमण से बहुत पहले लिखी गई थी। अध्याय १३ से १६, जिनमें रामायण और महाभारत की रूप-रेखा है, विशेष रूप से प्रमाणित करते हैं कि इस स्थल का निर्माण रामायण और महाभारत की रचना के बाद ही हुआ है।[1]

(४) इस सम्बन्ध में डा० राजेन्द्रलाल मित्र का निम्न कथन उल्लेखनीय है:—

"जिन रीति-रिवाजों का इस पुराण में उल्लेख है, उनमें से अधिकतर तो इस समय हैं ही नहीं, और कुछ का नाम-मात्र रह गया है। जब तान्त्रिक पूजा-विधि इस देश में प्रचलित हो गई थी; संभवतः उसी का परिचय साधारण पाठकों को देने के लिए ही लेखक ने इस पुराण का संकलन किया हो। क्योंकि इस रचना में परिगणित विभिन्न रीतियाँ, पौराणिक विश्वास और संस्कार, जिन्हें लेखक जनसाधारण तक पहुँचाना चाहता है, तत्कालीन भारत में प्रचलित रहे होंगे। अतः मानना होगा कि अग्नि पुराण मुसलिम आक्रमण से पूर्व तथा तांत्रिक पूजा-प्रणाली के प्रचलन के बाद ही कभी लिखा गया होगा।"

(५) डा० एफ० ई० पार्जिटर के अनुसार यह पुराण नवमी शताब्दी के बाद ही रचा गया।[2]

डा० हाज़रा ने भी इस पुराण के अवतार प्रकरण के आधार पर इसे नवमी शती ईस्वी के बाद की रचना माना है। उनकी इस धारणा का विशेष आधार इस पुराण का यह कथन है 'म्लेच्छ शासक होकर मानवों का भक्षण करेंगे'।[3] अर्थात् डा० हाज़रा के अनुसार इस कथन में प्रयुक्त 'म्लेच्छ' शब्द कुशाणों के बाद इस देश में आनेवाले मुसलमानों के लिए ही प्रयुक्त किया गया है और मुसलमानों का इस देश में प्रथम बार प्रवेश नवमी शती में हुआ, यह इतिहास-प्रसिद्ध तथ्य है।[4]

---

१. भूमिका अग्नि पुराण (इंगलिश अनुवाद) पृष्ठ ५।
२. एन्श्यंट इंडियन हिस्टौरिकल ट्रेडीशन, पृष्ठ ८०।
३. मनुष्यान्भक्षयिष्यन्ति म्लेच्छाः पार्थिवरूपिणः। अ० पु० १६।७।
४. स्टडीज इन दि पौराणिक रेकार्ड्स ऑन हिन्दु-रीतीज एन्ड कस्टम्स, पृष्ठ ८८।

इन सब अनुसंधाताओं के विचारों का निष्कर्ष यह है कि इस सम्पूर्ण ग्रन्थ का संकलन मुस्लिमों के लगभग भारत-प्रवेश के साथ ही साथ तथा भारत में प्रचलित तांत्रिक उपासना-पद्धति के बाद हुआ और ये दोनों घटनायें नवमी शती के आस-पास ही घटित हुईं। फिर भी सर्व-सम्मत निश्चित तिथि के सम्बन्ध में अभी अन्य अनुसंधानों की आवश्यकता है।

५. अग्निपुराण का सामान्य परिचय

अग्नि पुराण में ३८३ अध्याय हैं और श्लोक संख्या ११,४५७ है। ग्रन्थ की वर्ण्य विषय-सूची इस प्रकार है—

अध्याय	१			में	वर्ण्य विषय निर्देश।
अध्याय	२	से	४	मे	मंगलाचरण, ग्रन्थ-रचना का उद्देश्य। तथा मत्स्यकूर्मवराहादि अवतार-वर्णन।
अध्याय	५	से	१०	में	रामायण-कथा।
अध्याय	११			में	कृष्ण-जन्म-सम्बन्धी आख्यान।
अध्याय	१२	से	१५	में	महाभारत-सम्बन्धी आख्यान।
अध्याय	१६			मे	बुद्ध तथा कल्कि अवतार-वर्णन।
अध्याय	१७	से	२२	में	सृष्टि-उत्पत्ति, स्वयंभुव, मनु, काश्यप-वंश वर्णन तथा विष्णु आदि देवों की पूजा-विधि।
अध्याय	२३	से	३३	में	विभिन्न कर्मकांड विधियों की चर्चा।
अध्याय	३३	से	१०२	में	देवालयादि निर्माण-फल, मूर्तिस्थापन-विधि। मन्दिर, सरोवर, कूप बनाने का फल।
अध्याय	१०३	से	११६	में	विभिन्न पर्वतों एवं जम्बू द्वीप, गंगा, काशी, गया माहात्म्य-वर्णन।
अध्याय	११७			में	श्राद्ध-वर्णन।
अध्याय	११८	से	१२१	में	भारत-वर्णन तथा ज्योतिष् शास्त्र परिचय।
अध्याय	१२२	से	१२४	में	युद्धविद्या-वर्णन।
अध्याय	१२५	से	१४९	में	तान्त्रिक उपासना-पद्धति-वर्णन।
अध्याय	१५०	से	१५४	में	वर्ण-धर्म-चर्चा तथा विवाह-संस्कार।

अध्याय	१५५ से २०१	में	आचार-शौचाशौच-चर्चा, वानप्रस्थ, यति-धर्म, विभिन्न पातक और प्रायश्चित्त।
अध्याय	२०२ से २०७	में	नरक-वर्णन।
अध्याय	२०८ से २१२	में	दान-महिमा।
अध्याय	२१३ से २४८	में	विभिन्न पूजा-विधियाँ, राजधर्म, दंड-नीति, यात्रा, शकुनादि।
अध्याय	२४९ से २५२	में	धनुर्वेद-चर्चा।
अध्याय	२५५	में	दाय-विभाग।
अध्याय	२५६ से २७२	में	कर्मकांड की विविध विधियाँ।
अध्याय	२७३ से २७६	में	विविध राजवंश-वर्णन।
अध्याय	२७६ से २९६	में	आयुर्वेद-वर्णन।
अध्याय	२९६ से ३३७	में	विविध विधि-विधान।
अध्याय	३३७ से ३४७	में	विभिन्न काव्य-शास्त्रांग-वर्णन।
अध्याय	३४८ से ३६७	मे	व्याकरण का तथा कोष का सविस्तार वर्णन।
अध्याय	३६८ से ३८३	में	योगचर्चा, ब्रह्मज्ञान, गीतासार।

इस प्रकार इस पुराण में विविध तथा परस्पर भिन्न विषयों का समावेश है जो इस धारणा को मानने को बाध्य करता है कि सम्पूर्ण सामग्री विभिन्न समयों में विभिन्न लेखकों द्वारा समय-समय पर रचित, परिवर्तित तथा परिवर्द्धित होती रही। इसीलिए इस रचना को विश्वकोष कहा गया। विश्व-कोष का भी अपना महत्त्व होता है। इस ग्रन्थ के विविध विषयों के आलोडन से आज भी कई अनुसंधाता लाभ प्राप्त कर सकते हैं, जो कि इस ग्रन्थ के वैज्ञानिक एवं गम्भीर अध्ययन से सहज संभव है।

६. अग्नि पुराण के काव्यशास्त्रीय भाग का संक्षिप्त परिचय

इस पुराण में अध्याय ३३७ से ३४७ वें अध्याय तक काव्यशास्त्रीय सामग्री का संकलन किया गया है। इस सामग्री का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है:—

अध्याय ३३७ : काव्यादि लक्षण

इस अध्याय में आरम्भ में काव्य की परिभाषा तथा इसके महत्त्व को

प्रतिपादन किया गया है। तदनन्तर गद्य-काव्य का लक्षण तथा इसके भेदोपभेदों का सम्यक् निरूपण किया गया है। अन्त में पद्य-परिवार के भेदों का उल्लेख कर महाकाव्य का विस्तृत तथा अन्य भेदों के संक्षिप्त लक्षण दिये गये हैं।

अध्याय ३३८ : नाटक निरूपण

इस अध्याय में रूपक के भेदों के उल्लेख के अनन्तर, इन नाटक-प्रकारों की अर्थ-प्रकृतियों और नाटकीय संधियों तथा तत्संबन्धी अन्य सामग्री का उल्लेख है। अध्याय के अन्त मे श्रेष्ठ नाटक के गुण एवं उसमें अपेक्षित देश-काल का संकेत भी दिया गया है।

अध्याय ३३९ : शृंगारादि निरूपण

इस अध्याय के अन्तर्गत रस, स्थायीभाव, आलम्बन तथा उद्दीपन-विभाव के निरूपण के अनन्तर नायक-नायिका-भेद की चर्चा पर प्रकाश डाला गया है।

अध्याय ३४० : रीति निरूपण

इस अध्याय में रीति तथा वृत्ति के लक्षणों के अनन्तर इनके प्रकारों का भी उल्लेख किया गया है।

अध्याय ३४१ : नृत्यादि में अंगकर्म निरूपण

इस अध्याय मे नायिकाओ की चेष्टाओं का विभाजन प्रस्तुत किया गया है। तत्पश्चात् नृत्यकला मे प्रयुक्त होनेवाले अङ्गों की चेष्टाओं तथा हाव-भावों का परिगणन किया गया है।

अध्याय ३४२ : अभिनयादि निरूपण

इस अध्याय में चतुर्विध अभिनयों के निरूपण के उपरांत शृंगारादि रसों के लक्षण निर्दिष्ट किये गये हैं। तदनन्तर अलंकार की परिभाषा, उसके भेदों के उल्लेख के साथ-साथ शब्दालंकार के नौ भेदों के लक्षण प्रस्तुत किये गये हैं।

अध्याय ३४३ : शब्दालंकार

इस अध्याय में अनुप्रास, यमक, चित्र और बन्ध अलंकारों का भेदोपभेद सहित विस्तृत वर्णन है।

अध्याय ३४४ : अर्थालंकार

इस अध्याय में सर्वप्रथम स्वरूप आदि आठ अलंकारों का परिगणन है।

तत्पश्चात् स्वरूप के अन्तर्गत उपमा, रूपक, सहोक्ति तथा अर्थान्तरन्यास का उल्लेख है। आगे उपमा के भेदोपभेद एवं विरोध-मूलक अलंकारों के निरूपण के उपरांत हेतु अलंकार को भेदोपभेद सहित प्रस्तुत किया गया है।

अध्याय ३४५ : शब्दार्थालंकार

इस अध्याय में सर्वप्रथम प्रशस्ति, कान्त्यादि छः अलंकारों का उल्लेख है। तत्पश्चात् आक्षेप-ध्वनि के अन्तर्गत समासोक्ति, पर्यायोक्ति और अपह्नुति अलंकार प्रस्तुत किये गये हैं।

अध्याय ३४६ : काव्य-गुण-विवेक

इस अध्याय में गुण की परिभाषा, उसके महत्त्व तथा उसके भेदोपभेदों की चर्चा है। अग्नि पुराण में शब्द-गुण सात, अर्थ-गुण छः तथा शब्दार्थ-गुण छः प्रकार के गिनाये हैं।

अध्याय ३४७ : काव्य-दोष-विवेचन

इस अध्याय में काव्य-दोषों की चर्चा की गई है। सर्वप्रथम वक्तृ-वाचक के भेद से दोष सात प्रकार के बताये गये हैं। तदुपरांत उनके भेदोपभेदों के लक्षण लिखकर तत्पश्चात् इन दोषों का परिहार कर दिया गया है। अध्याय की समाप्ति कवि-समय-ख्याति के भेदोपभेदों के साथ होती है।

इस प्रकार इन अध्यायों में काव्य, नाटक, रस, रीति, नाटक में नृत्य तथा अभिनय प्रकार, अलंकार, गुण तथा दोषों का निरूपण हुआ है। इन सब प्रकरणों में विषय-निरूपण की प्रवृत्ति तो अल्प है, पर संग्रह की प्रवृत्ति अधिक है।

७. संग्रह की प्रवृत्ति

उपर्युक्त विषय-सूची से स्पष्ट है कि इस ग्रन्थ में संग्रह की प्रवृत्ति सर्वाधिक रूप में है। ग्रन्थकार किसी लक्षण को देकर उसका स्पष्टीकरण नहीं करता अपितु वह उसके भेदोपभेदों के नाम गिनाना आरम्भ कर देता है। यह विश्वकोष विशेषण जहाँ इस पुराण के अन्य सब विषयों पर लागू होता है वहाँ इस ग्रन्थ के काव्यशास्त्रीय भाग पर भी अक्षरशः चरितार्थ होता है। काव्य, गद्य-काव्य, नृत्य, शब्दालंकार आदि के भेदोपभेद के प्रसंगों में यही प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है। इस संग्रह-प्रवृत्ति के सम्बन्ध में डा० सुशीलकुमार डे के विचार उल्लेखनीय हैं :—

'यह सर्वविदित तथ्य है कि यह (अग्नि पुराण) एक अज्ञातनामा लेखक

का विश्वकोष है। यह निर्विवाद है कि इस ग्रन्थ का अलंकार प्रकरण एक ऐसे लेखक के द्वारा उद्धृत है जो स्वयं एक सिद्धांतकार नहीं और न ही वह किसी सम्प्रदाय विशेष से संवद्ध है। यह रचना स्वतन्त्र रूप से निर्मित नहीं है परन्तु इसमें सब प्रकार के प्राचीन लेखकों की सामग्री संग्रहीत है।[1]

इस संग्रह-प्रवृत्ति का मूल कारण क्या था, निश्चयपूर्वक कुछ कह सकना कठिन है। इस सम्बन्ध मे दो कारण संभव हैं। एक यह कि लेखक सम-कालीन अथवा पूर्ववर्ती आचार्यो की काव्य-सामग्री का संकलन करना चाहता था, और दूसरा यह कि उस समय यह विपय विद्वानों मे इतना प्रचार पा गया होगा कि ग्रन्थकार को इसका विस्तृत विवेचन तथा उदाहरण प्रस्तुत करने की आवश्यकता ही प्रतीत नही हुई।

जो हो इस संग्रह की विशेषताएँ भी कुछ कम महत्त्वपूर्ण नही हैं। इसमें विभिन्न काव्यांगों के, विशेषतः अलकारों के, भेदोपभेद इतने सूक्ष्म, विस्तृत और वैज्ञानिक हैं कि पाठक आश्चर्य-चकित रह जाता है। उदाहरणार्थ, एक-वर्णगता वृत्ति के भेद, यमक के भेद, गुणों के प्रकार, दोपो के भेदोपभेद, उपमा के प्रकारों का वैविध्य, नृत्य-प्रकरण आदि-आदि अनेक स्थल हमारे इस कथन की पुप्टि करते हैं। निस्सन्देह यह समग्र सामग्री लेखक की अथवा उस युग के विद्वत्समाज की सूक्ष्म पर्यवेक्षण-शक्ति की परिचायिका है।

८. स्रोत

जैसा कि हम पीछे पुराण लक्षण प्रसंग में निर्दिप्ट कर आये हैं कि अग्नि पुराण का मूल विषय काव्यशास्त्र की सामग्री प्रस्तुत करना नही है। यहाँ एक संभावित शंका का समाधान प्रस्तुत करना आवश्यक है कि मूल रचयिता अथवा संकलयिता आदि ने काव्य-शास्त्रीय सामग्री कहाँ से ली और उसे इस ग्रन्थ में कब सम्मिलित किया? इस सम्बन्ध मे कतिपय विद्वानों के मन्तव्य उल्लेखनीय हैं।

इन मतों को हम दो भागों मे विभक्त कर सकते हैं— पहले प्राचीनतावादी और दूसरे नवीनतावादी। प्रथम प्रकार के लोग परम्परा में आस्था रखनेवाले हैं। ये विद्वान् पुराणों को वैदिक साहित्य के वाद की रचना सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। अतः इन्हे पृथक् रूप से काव्यशास्त्रीय भाग की तिथि

---

१. हिस्ट्री ऑफ संस्कृत पोइटिक्स, भाग २, पृष्ठ २५४।

निश्चित करने का कोई प्रयास भी स्वीकृत नहीं। निस्सन्देह इन्हें इस सम्पूर्ण ग्रन्थ का निर्माण एक ही समय में मानना अभीष्ट है न कि विभिन्न भागों का विभिन्न कालों में।

आचार्य महेश्वर-लिखित 'काव्य-प्रकाशादर्श' के अनुसार भरत मुनि ने सुकुमार-मति राजकुमारों को काव्य के माध्यम से गम्भीर शास्त्रों के ज्ञानार्थ अग्नि पुराण से सामग्री लेकर 'अलंकार-शास्त्र' की रचना की।[1] लगभग ऐसा ही मन्तव्य श्री विद्याभूषण ने अपने समीक्षात्मक ग्रन्थ 'कृष्णानन्दिनी' में प्रकट किया है।[2]

स्पष्ट है कि इन दोनों लेखकों ने अग्नि पुराण को भरत से भी पूर्व रचित सिद्ध करना चाहा है। पर इस प्रकार की धारणा का प्रधान कारण पुराणों एवं महर्षि व्यास के प्रति आस्था एवं श्रद्धा ही है। वस्तुतः स्थिति ठीक इसके विपरीत है। अग्नि पुराण के 'रीति प्रकरण' में रीति के भेदोपभेदो की चर्चा करते समय "भरतेन प्रणीतत्वाद् भारती रीतिरुच्यते"[3] कह कर अग्नि-पुराणकार ने प्रकारान्तर से अपने को भरत का ऋणी घोषित किया है।

दूसरे वर्ग मे वे आलोचक आते है जो प्राप्य सामग्री का विश्लेपण वैज्ञानिक दृष्टि से प्रस्तुत करते है। इस सम्बन्ध मे वी० पी० काणे का मन्तव्य उल्लेख-नीय है। उन्होने विभिन्न तर्कों के आधार पर अग्नि पुराण के काव्य-शास्त्रीय भाग का स्रोत आचार्य दण्डी का काव्यादर्श तथा आचार्य भामह का 'काव्यालंकार' माना है। इस सम्बन्ध में उनके विचार इस प्रकार हैं—

(क) अग्नि पुराण में लिखित रूपक, उत्प्रेक्षा, विशेषोक्ति, विभावना आदि के लक्षण दण्डी के 'काव्यादर्श' के समान हैं।

(ख) अग्नि पुराण में पद्य का लक्षण :

पद्यं चतुष्पदी तच्च वृत्तं जातिरिति त्रिधा।[4]

काव्यादर्श के लक्षण के ही सदृश है।

(ग) रूपक, आक्षेप, अप्रस्तुतप्रशंसादि अलंकारों की परिभाषाएँ जैसे कि

---

१. साहित्यदर्पण की भूमिका, श्री काणे।
२. साहित्यदर्पण की भूमिका, श्री काणे।
३. अ० पु०, अ० ३४०।६।
४. अ० पु०, ३३७।

अग्नि पुराणकार ने दी हैं तद्वत् वे भामह के 'काव्यालंकार' में मिल जाती है।[1]

अतः अग्नि पुराण का काव्यशास्त्रीय भाग इन दो आचार्यों की रचनाओं से प्रभावित है।

श्री कन्हैयालाल पोद्दार न श्री काणे के तर्कों के विपरीत यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि अग्नि पुराण दण्डी और भामह की रचनाओं का स्रोत है। उन्होंने इसे भरत के बाद की तथा दण्डी और भामह से पूर्व की रचना माना है।[2]

डा० सुशीलकुमार डे का अग्नि पुराण के काव्यशास्त्रीय भाग के विषय में मन्तव्य है कि :—

अग्नि पुराण में वर्णित-अलंकार भाग एक ऐसे मार्ग का अनुसरण करता है जो अनेक रूपों में प्राचीन प्रणाली से पृथक् हो जाता है। बाद के साहित्य में अग्नि-पुराण की परम्परा का विकास महाराज भोज ने अपने 'सरस्वती कण्ठाभरण' मे किया।[3]

निस्संदेह डा० डे की धारणा अधिकांशतः सम्मान्य है। अग्नि पुराण के काव्यशास्त्रीय भाग में कतिपय प्रसंग नितान्त नूतन हैं—

(क) इस ग्रन्थ में गुण प्रकरण प्राचीन परिपाटी से पृथक् रूप में प्रस्तुत हुआ है। इसमें गुणो की सख्या उन्नीस मानी गई है। गुणों का वर्गीकरण भी प्रचलित पद्धति से सर्वथा नवीन है, शब्द-गुण, अर्थ-गुण तथा शब्दार्थ-गुण। पुनः शब्द-गुण सात प्रकार का है और अर्थ तथा शब्दार्थ-गुण क्रमशः छः-छः प्रकार के हैं।[4]

(ख) इसी प्रकार दोष के वर्गीकरण में भी कुछ नवीनता दर्शनीय हैं यथा वक्तृदोष, वाचक दोष तथा वाच्य दोष। पुनः इन वर्गो के विविध उपवर्ग हैं। इसी प्रकरण में : कवि-समय-ख्याति के सामान्य लक्षण के अनन्तर इसके जो विविध प्रकार दिये गये हैं वे भी सर्वथा नवीन हैं।

(ग) इसी प्रकार शृंगार रस को अभिमान एवं अहंकार से उत्पन्न स्वीकृत करना भी नूतन कल्पना है। यही धारणा भोजदेव ने भी अपने दोनों

---

१. साहित्यदर्पण की भूमिका, वी० पी० काणे, पृ० ५।

२. संस्कृत-साहित्य का इतिहास, पृ० ९२।

३. हिस्ट्री ऑफ् संस्कृत पोइटिक्स, भाग द्वितीय, पृ० २५४।

४. अग्नि पुराण, पृ० ४३२ अध्याय ३४६।

ग्रन्थों 'सरस्वती कण्ठाभरण', 'शृंगार प्रकाश' में पर्याप्त विस्तार के साथ प्रस्तुत की है। यदि अग्नि पुराण का काव्यशास्त्रीय भाग भोजदेव के उक्त दोनों ग्रन्थों से पूर्व का माना जाए, तो शृंगार रस संबन्धी इस उद्भावना का श्रेय अग्नि पुराण को ही मिलेगा।

इस प्रकार और भी कई स्थल प्रस्तुत किये जा सकते हैं। उदाहरणार्थ अग्नि-पुराण का अलंकार-प्रकरण प्रत्येक दृष्टि से नवीन है; यथा, शब्दालंकारों के नौ भेद :—

छाया, मुद्रा, उक्ति, युक्ति, गुम्फन, वाकोवाक्य, अनुप्रास, चित्र, दुष्कर। आगे इन अलंकारों के उपभेद इस प्रकार हैं :—

(१) छाया के चार उपभेद हैं:—लोकोक्ति, छेकोक्ति, अर्भकोक्ति और मत्तोक्ति।

(२) उक्ति अलंकार के छः भेद हैं:—विधि, निषेध, नियम, अनियम, विकल्प और परिसंख्या।

(३) युक्ति अलंकार के भी छः भेद हैं :—पदगत, पदार्थगत, वाच्यगत, वाच्यार्थगत, विषयगत और प्रकरणगत युक्ति।

(४) गुम्फन अलंकार के भी तीन भेद होते हैं :—शब्दगत, अर्थगत और शब्दार्थगत।

(५) वाकोवाक्य अलंकार के दो भेद हैं :—ऋजु वाकोवाक्य और वक्र वाकोवाक्य।

(६) अनुप्रास के प्रमुख तीन भेद हैं, वर्णगत (छेकानुप्रास और वृत्त्यनुप्रास), पदगत (यमक) और वाक्यगत (लाटानुप्रास)।

(७) वृत्त्यनुप्रास का विभाजन भी उपभेदों के अन्तर्गत है, मधुरावृत्ति, ललितावृत्ति, प्रौढ़ावृत्ति, भद्रावृत्ति और परुषावृत्ति। इस परुषा के भी फिर स्थान-भेद से भेदोपभेद प्रस्तुत किये गये हैं।

(८) पदगत (यमक) अलंकार के भी व्यपदेशी और अव्यपदेशी और तदनन्तर स्थान और पाद के भेदोपभेदों के बाद पादादि मध्यान्त के विभेद से इसके १० और भेद प्रदर्शित किये गये हैं।

(९) चित्र अलंकार के भेदोपभेद इस प्रकार हैं :—प्रश्न, प्रहेलिका (शाब्दी और आर्थी), गुप्तपद, च्युतपद (स्वर च्युत, व्यंजन च्युत, विन्दु च्युत, विसर्ग च्युत), दत्तपद और समस्या तथा बंध।

(१०) दुष्कर के अन्तर्गत विदर्भ और नियम तथा बंध का भी उल्लेख है। आगे बन्धों की आठ संख्या इस प्रकार है :—

गोमूत्रिका वन्ध, अर्ध-भ्रमण वन्ध, सर्वतोभद्र, अम्बुज, चक्र, चक्राब्ज दण्ड और मुरज।

(११) मुद्रा के भेदोपभेद नहीं हैं।

इस प्रकार शब्दालंकारों के प्रधान भेद नौ हैं, उपभेद ३४ और गौण भेद ३८ हैं।

इस प्रसंग मे श्री चन्द्रकान्त बाली का निम्न उद्धरण प्रस्तुत करना असंगत न होगा :—

"अलंकार-शास्त्र-परम्परा के सर्वप्रथम शास्त्र (अग्नि पुराण) में शब्दालकारो की यह महती संख्या आश्चर्य उत्पन्न कर रही है। इनमें कुछ अलंकार यथावत् चल रहे हैं, कुछ अर्थालंकारों में परिगणित कर लिये गये हैं। शेष लुप्त हो गये हैं।"[1]

उपर्युक्त मान्यताओ को देखकर सहसा इस ग्रन्थ की उपेक्षा नहीं की जा सकती। यह और बात है कि विद्वान् इस ग्रन्थ की सामग्री के वास्तविक स्रोत के बारे मे एकमत न हों।

६. समय

अग्नि पुराण के सभी भागों का निर्माण कब हुआ, एक साथ हुआ अथवा समय-समय पर होता रहा, इस प्रश्न का समाधान हमारी विषय-सीमा से बाहर है। जहाँ तक काव्यशास्त्रीय भाग के समय निर्धारण का प्रश्न है, इस सम्बन्ध मे हमारे समक्ष दो विचार हैं। एक विचारधारा उन विद्वानों की है जो इस भाग को अत्यन्त प्राचीन मानते हैं। इन्हें पृथक् रूप से काव्यशास्त्रीय भाग की तिथि निश्चित करने का कोई प्रयास भी स्वीकृत नहीं। इन विद्वानों को इस सम्पूर्ण ग्रन्थ का निर्माण एक ही समय में मानना अभीष्ट है न कि विभिन्न-भागों का विभिन्न-कालों में। पौराणिक परम्परा में आस्था रखने वाले ये भारतीय विद्वान् सभी पुराणों को, जिनमे अग्नि पुराण भी सम्मिलित है, वैदिक साहित्य के बाद की रचना सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। इस सम्बन्ध में पंडित चन्द्रकान्त बाली का मन्तव्य इस प्रकार है : अग्नि पुराण मध्य काल

---

१. अलंकार शास्त्र का आदिस्रोत, माधुरी, अगस्त–१९४१, पृष्ठ ९४।

(युधिष्ठिर काल से विक्रम् १००० तक) की रचना है। इस साहित्य-स्वर्ण-युग में अलंकार-शास्त्र-परम्परा का आरम्भ अग्निपुराण से होता है।[1]

अब इस सामग्री पर विशेष रूप से विचार प्रस्तुत करने वाले दूसरी विचार-धारा के विद्वानो के कुछ मन्तव्य दिये जाते हैं जो इस प्रकार हैं :—

श्री वी० पी० काणे ने इस काव्यशास्त्रीय भाग को आचार्य दण्डी से परवर्ती सिद्ध करके यह दिखाया कि यह अंश नवम शताब्दी के बाद का है।[2]

इसी प्रकार श्री कन्हैयालाल पोद्दार ने इस अंश को भरत के बाद तथा भामह, दण्डी आदि आचार्यो से पूर्ववर्ती मान कर इसे पाँचवी, छठी शती-ईस्वी के लगभग का सिद्ध करने का प्रयास किया है।[3]

इन परस्पर विरोधी मतों में एक सुनिश्चित तिथि का निर्णय कर सकना यद्यपि कठिन है तब भी इस भाग की वर्ण्य सामग्री को देखते हुए कहा जा सकता है कि :—

(१) इसे आरम्भिक अवस्था की रचना मानने की अपेक्षा दण्डी और भामह के बाद की, जबकि काव्य-शास्त्र विकसित होने लग पड़ा था, रचना मानना चाहिए।

(२) संभवतः इसकी रचना महाराज भोजराज के समय में अथवा इससे कुछ पूर्व हुई है। क्योकि यह अग्नि पुराण और भोजराज के ग्रन्थ एक दूसरे से प्रभावित प्रतीत होते हैं। भोज का समय ११वीं शती ईस्वी का पूर्वार्द्ध माना गया है। अतः अग्नि पुराण का समय १०वीं शती के अन्तिम चरण और ११वीं शती के पूर्वार्द्ध मे होगा।

१०. अन्य ग्रन्थों पर प्रभाव

कोई भी मौलिक रचना समकालीन अथवा परवर्ती साहित्य को, किसी न किसी रूप मे, अवश्य प्रभावित करती है। यही स्थिति अग्नि पुराण की भी है।

जैसा कि हम कह आए है कि सेठ कन्हैयालाल पोद्दार ने अपने विवेचन में इस पुराण के काव्यशास्त्रीय भाग का किंचित् प्रभाव आचार्य दण्डी और

---

१. मासिक 'माधुरी' अगस्त-१९४१, पृष्ठ ९५।

२. साहित्यदर्पण की भूमिका, (इङ्गलिश)।

३. संस्कृत-साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ८२।

भामह पर मानी है, तथा भोजराज कृत "सरस्वती कण्ठाभरण" और "श्रृंगार प्रकाश" पर इसका अत्यधिक प्रभाव दिखाया है। अग्नि पुराण के इस भाग का प्रभाव दण्डी और भामह पर मानना समुचित नही है, क्योकि यह काव्य-शास्त्रीय भाग इन आचार्यो के कई शताब्दी उपरान्त निर्मित हुआ है। हाँ, भोजराज के उक्त दो ग्रन्थों पर इसका प्रभाव अवश्य पड़ा है, उदाहरणार्थ अहंकार और श्रृंगार मे जन्य-जनक सम्बन्ध दोनों में एक-सा है, पर फिर भी ऐसे स्थल बहुत अधिक नही हैं। इधर परवर्ती काव्यशास्त्र पर इसका कुछ भी प्रभाव लक्षित नहीं होता। इस सम्बन्ध में कुछ एक कारण उल्लेखनीय हैं—

१. पुराणों का वैज्ञानिक एवं स्वच्छ सम्पादन न होने के कारण विभिन्न पाठ-भेद वास्तविक अर्थ के समझने मे बाधक बन जाते हैं।

२. इस ग्रन्थ मे काव्यांगों की दी गई परिभाषा अति संक्षिप्त और कही-कहीं अस्पष्ट है।

३. इस ग्रन्थ में उदाहरणों का अभाव है। अतः काव्यांगों की परिभाषाओं और उनके भेदोपभेदों का वास्तविक स्वरूप समझना कठिन हो जाता है।

४. इस ग्रन्थ मे विवेचन की अपेक्षा सग्रह की प्रवृत्ति ही अधिक लक्षित होती है।

इन कारणों से इस काव्यशास्त्रीय भाग का प्रचलन आगे रुक गया और इस प्रकार इस पुराण की यह अमूल्य सामग्री विस्मृति के गर्त मे चली गई। फलस्वरूप जहँ अन्य आचार्यो का काव्य-शास्त्रीय विवेचन प्रसृत एवं प्रचलित होता गया वहाँ इस पुराण का यह भाग अपना विशेष प्रभाव स्थिर न कर सका।

११. अन्य काव्य-शास्त्रीय ग्रन्थों से विभिन्नता

काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में 'दण्डी' का 'काव्यादर्श', 'भामह' का 'काव्या-लंकार', 'भोज' का 'सरस्वती कंठाभरण', आचार्य 'मम्मट' का 'काव्यप्रकाश' तथा विश्वनाथ का 'साहित्यदर्पण' ही प्रमुख माने जाते हैं। जहॉ तक भोज के 'सरस्वती कंठाभरण' का सम्बन्ध है उसमें, परस्पर प्रभावित अग्नि-पुराण के संक्षिप्त काव्यांगों, विशेषतः रस का विस्तृत तथा सम्यग् रीति से तात्त्विक विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

उपर्युक्त प्रमुख काव्य-ग्रन्थों में काव्य-गुणों का इतना विस्तृत तथा वर्गीकृत वर्णन नहीं मिलता, जितना कि अग्नि-पुराण में मिलता है। यहाँ गुणों की संख्या भी सबसे अधिक है। वामन ने इनके शब्द तथा अर्थगत भेद गिनाये थे, पर अग्नि पुराण ने शब्दार्थ की दृष्टि से भी गिनाये हैं। संभवतः यहीं से प्रेरणा प्राप्त करके भोज ने 'सरस्वती कंठाभरण' में भी यही वर्गीकरण अपनाया है। इस ग्रन्थ में गुण की परिभाषा नितान्त भिन्न तथा विलक्षण है। गुण की परिभाषा :—

यः काव्ये महती छायामनुगृह्णात्यसौ गुणः।
संभवत्येष सामान्यो वैशेषिक इति द्विधा॥

[अ० पु० अ० ३४६।३]

दंडी, भामह आदि अलंकारवादी आचार्यों के ग्रन्थों में जहाँ ध्वनि के सम्बन्ध में संकेत मात्र मिलते हैं, तथा मम्मटादि आचार्यों ने जिसकी विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत की है, पर अग्नि पुराण में 'शब्दार्थालंकार' प्रकरण में श्रुति अलंकार के भेदोपभेद के अन्तर्गत ध्वनि का संकेत मात्र ही है :

स आक्षेपो ध्वनिः स्याच्च ध्वनिना व्यज्यते यतः।

[अ० पु० अ० ३४५।१४]

अथवा

एषानेकतमस्यैव समाख्या ध्वनिरित्यतः॥

[अ० पु० अ० ३४५।१६]

इसी प्रकार अभिनय के प्रकरण में नायिका के हाव-भावादि अलंकारों का वर्णन तो अग्नि-पुराण के अतिरिक्त अन्य परवर्ती काव्य-ग्रन्थों 'दशरूपक', 'साहित्य दर्पण' में भी मिल जाता है। पर, इसी प्रसंग में नृत्यसम्बन्धी मुद्रायें ऐसी हैं जिनका निरूपण केवल अग्नि-पुराण में ही है।

उदाहरणार्थ :—

शिरः पाणिरुरः पार्श्व कटिरङ्घ्रिरिति क्रमात्॥
अङ्गानि भ्रूलतादीनि प्रत्यङ्गान्यभिजायते।
अंग-प्रत्यंगयोः कर्म प्रयत्न-जनितं विना॥

[अ० पु० अ० ३४१।५.६]

भ्रूकर्म सप्तधा ज्ञेयं पातनं भृकुटी मुखम् ॥
दृष्टिस्त्रिधा रस-स्थायि-संचारि-प्रतिबन्धना ।
[अ० पु०, अ० ३४१।९.१०]

अभिनय में नायक-नायिकादि के मनोव्यापारों का वर्गीकरण भी इस ग्रन्थ में नूतन है :—

नायक मनोव्यापार :—

शोभा विलासो माधुर्यं स्थैर्यं गाम्भीर्यमेव च ।
ललितं च तथौदार्यं तेजोऽष्टाविति पौरुषाः ॥
[अ० पु० अ० ३४३।४७]

नायिका मनोव्यापार :—

भावो हारश्च वेला च शोभा कान्तिस्तथैव च ।
दीप्तिर्माधुर्यशौर्ये च प्रागल्भ्यं स्यादुदारता ॥
स्थैर्यं गम्भीरता स्त्रीणां विभावा द्वादशेरिताः ।
[अ० पु० अ० ३४३।४९.५०]

साहित्यदर्पण में रूपक के दस तथा उपरूपक के अठारह भेद गिनाकर उनके उदाहरण भी प्रस्तुत किये गए हैं, पर अग्नि पुराण में नाटक के प्रकरण में इसके सत्ताईस भेदों का केवल परिगणन मात्र है।

अग्नि पुराण के 'रीति प्रकरण' में रीति-रीति, वृत्ति, प्रवृत्ति की जो विस्तृत चर्चा है वह राजशेखर को छोड़ अन्य ग्रन्थों में एकत्र नहीं मिलती।

१२. इस ग्रन्थ की असाधारण एवं नवीन मान्यतायें

यह ग्रन्थ अधिकांशतः संकलन पर आधृत होते हुए भी कुछ नवीन एवं असाधारण मान्यतायें प्रस्तुत करता है :

(१) मूलतः रस चार हैं : शृंगार, वीर, करुण तथा रौद्र।

(२) शृंगार-सम्बन्धी नवीन मान्यता :

अक्षरं परमं ब्रह्म सनातनं अजं विभुम् ।
वेदान्तेषु वदन्त्येकं चैतन्यं ज्योतिरीश्वरम् ॥

आनन्दः सहजस्तस्य व्यज्यते स कदाचन ।
व्यक्तिः सा तस्य चैतन्यचमत्काररसाह्वया ॥

आद्यस्तस्य विकारो यः सोऽहंकार इति स्मृतः ।
ततोऽभिमानस्तत्रेदं समाप्तं भुवनत्रयम् ॥

अभिमानाद्रतिः सा च परिपोषमुपेयुषी ।
व्यभिचार्यादिसामान्याच्छृंगार इति गीयते ॥[1]

[अ० पु०, अ० ३३९। १ से ४]

(३) आनन्दवर्धन, मम्मट आदि आचार्यों ने काव्य को व्यंग्य-प्रधान माना है; पर, इस ग्रन्थकार ने शास्त्र में शब्द की प्रधानता, इतिहास (पुराणादि) में आस्था की प्रधानता तथा काव्य में अभिधा की प्रधानता कह कर काव्य को अभिधा-प्रधान माना है।[2]

(४) यहाँ हास्यरस के चार भेद किये गये हैं, पर भरत, विश्वनाथ आदि के ग्रन्थों में छः भेदों का उल्लेख है। इसी प्रकार इस ग्रन्थ में परिगणित बीभत्स के दो भेद, करुण और रौद्र के तीन भेद अन्य प्रचलित ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं हैं।

(५) अर्थालंकारों के वर्गीकरण में भी नवीनता द्रष्टव्य है। उदहारणार्थ स्वरूप, सादृश्य, उत्प्रेक्षा, अतिशय, विभावना, विरोध और हेतु के उल्लेख के बाद स्वरूप अलकार के निज और आगन्तुक भेदों की कल्पना भी लेखक के नवीन दृष्टिकोण की परिचायिका है।

(६) यद्यपि इस ग्रन्थकार ने रसवादी आचार्यों की परिपाटी को नहीं अपनाया तो भी काव्य में रस के महत्त्व की स्वीकृति इन्हें अभीष्ट अवश्य थी। उदाहरणार्थ—महाकाव्य के लक्षण में इनका यह मन्तव्य उद्धरणीय है :—

वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम् ।
पृथक् प्रयत्नं निर्वर्त्यं वाग्विक्रमणि रसाद्वपुः ॥

[अ० पु०, अ० ३३७।३३]

इस प्रकार की कुछ असाधारण धारणायें इस ग्रन्थ में नितान्त नूतन एवं अधिकांशतः ग्राह्य हैं।

---

१. अर्थ देखिये पृष्ठ इसी पुस्तक में रसप्रकरण में (शास्त्रीय भाग)।

२. शास्त्रे शब्दप्रधानत्वमितिहासेषु निष्ठता ।
अभिधायाः प्रधानत्वात् काव्यं ताभ्यां विभिद्यते ॥
(अ० पु०, अ० ३३७।२)

१३. भ्रामक स्थल

अग्नि पुराण पर अद्यावधि श्री एम० एन० दत्त द्वारा रचित एक ही अनुवाद उपलब्ध है, और वह भी आंग्ल भाषा में। इस दिशा मे श्री दत्त का प्रयास नितान्त गम्भीर है। प्रस्तुत अनुवाद के निर्माण मे मैने भी उनके ग्रन्थ से अभीष्ट सहायता ली है। वस्तुतः अनुवाद-कला एक कठिन कार्य है, क्योंकि एक भाषा की प्रकृति दूसरी भाषा की प्रकृति से अधिकांशतः भिन्न होती है, इसलिये एक भाषा के भावो को दूसरी भाषा में तद्वत् प्रस्तुत करना सरल नही होता। यदि मूल ग्रन्थ का पाठ ही अनेक स्थलो पर भ्रष्ट एव खण्डित हो तो अनुवादक की कठिनाई और भी बढ जाती है। प्रस्तुत ग्रन्थ में इस प्रकार के अनेक स्थल मेरे समक्ष आये हैं, ये स्थल अन्त तक भी मेरे लिये समस्या बने रहे हैं। ऐसे स्थलों पर श्री एम० एन० दत्त से भी सहायता नही मिली। सम्भवतः इन स्थलो पर उन्होंने शब्दानुवाद की अपेक्षा भावानुवाद का ही अधिक आश्रय लिया है। कही-कही पाठ-भेद से ऐसा भी प्रतीत होता है कि उनकी मूल प्रति मेरी प्रति से भिन्न है। उदाहरणार्थ :—

नर्ते ताभ्यां प्राणभृतां सुखदुःखोदयः क्वचित्।
सर्गे सर्गादिवार्ता प्रसंजन्ती न दुष्यति॥

[अ० पु०, अ० ३३८।२७]

इस श्लोक का अर्थ श्री दत्त महोदय ने इस प्रकार किया है :—

"The action of the Drama should be made to possess human interest, and to be replete with the joy and sorrow, struggle and suffering of the human race. Glimpses of heavenly regions, or supernatural incidents, may be introduced in the middle of a drama, without taking away anything its merit."

और हमने इस प्रकार :—

"देश और काल के सम्यक् उल्लेख के बिना प्राणियों (दर्शकादि) में सुख और दुःख की अनुभूति ठीक प्रकार से नहीं करायी जा सकती। सर्ग (अंक) में सृष्टि की आदिवार्ता (आरम्भिक घटना) दिखाना भी कोई दूषण नही है।"

(२) इसी प्रकार 'शब्दालंकार' प्रकरण में—

मधुरायाश्च वर्गान्तादधो वर्ग्याश्रिणौ स्वनौ।
ह्रस्वस्वरेणान्तरितौ संयुक्तत्वं नकारयोः॥३॥

न कार्या वर्ग्यवर्णानामावृत्तिः पंचमाधिका ।
महाप्राणोष्मसंयोगप्रविमुक्तलघूत्तरौ ॥४॥

इन दो श्लोकों का अर्थ भी श्री दत्त जी ने इस तरह दिया है :—

"The Madhura class ends with Va and Dha coupled with the Nakaras, and separated from each other by Ra and Na, disjointed by short Vowels. The Varga-varnas (letters belonging to any of the five groups of consonants known as the Vargas) should not be repeated in more than five ways."

और हमने इसका अर्थ इस प्रकार दिया है :—

"मधुरावृत्ति में वर्गों के अन्तिम वर्णो से पूर्ववर्ती दो कोमल स्वनों (वर्णों) अर्थात् वर्गो के तीसरे और चौथे वर्णो की आवृत्ति होती है। ये वर्ण ह्रस्व 'अ' से पृथग्भूत हों अर्थात् असंयुक्त होने चाहिएँ, और यदि संयुक्त भी हों तो केवल 'न' कार के ही साथ हों। यहाँ वर्ग्य वर्णो की आवृत्ति पाँच बार से अधिक नही होनी चाहिए। इसमें महाप्राण ऊष्म वर्णों का संयोग न हो और लघु अक्षर (वर्ण) उत्तर में हों।"

"महाप्राणोष्मसंयोगप्रविमुक्तलघूत्तरौ" स्पष्ट है कि श्री दत्त महोदय के अनुवाद में इस अर्ध पंक्ति का अर्थ प्रस्तुत नहीं किया गया। ऐसे भी अन्य अनेक स्थल है जहाँ मेरा अनुवाद दत्त जी से पृथक् हो जाता है। भिन्न संस्करण का होना ही इस विभिन्नता का प्रमुख कारण है। इधर मेरे अनुवाद में कई स्थल ऐसे है, जिनके सम्बन्ध में मैं पूर्णतः संतुष्ट नहीं हूँ। मुझे विश्वास है, ऐसे स्थलों में विद्वज्जन मेरा पथ-प्रदर्शन करेंगे। कुछ स्थलों की सूची इस प्रकार है :—

	अध्याय	श्लोक
१. योनिर्वेदश्च लोकश्च सिद्धमन्नादयोनिजम्	३३७	७
२. वृत्तमक्षरसंख्येयमुक्यं तत्कृतिशेषजम्	३३७	२१
३. पीठमर्दस्तु कलशः	३३९	४०
४. मधुरायाश्च वर्गान्तादधो वर्ग्यारणौ स्वनौ	३४३	३
५. अन्तस्था भिन्नमाभ्यां च हः पारभ्यायै संयुतः	३४३	८
६. एवं सत्प्रतिपक्षत्वं कालातीत्वसंकरः	३४७	२३
७. एकादश निरर्थत्वं दुष्करादौ न दुष्यति	३४७	२४

ऐसे स्थलों का अनुवाद करने में यद्यपि पूर्ण सावधानी बरती गई है, तो भी मैं यह कहने का साहस नहीं कर सकता कि ये अर्थ पूर्णतः ठीक ही होंगे। इनके अतिरिक्त मूल पाठ में कुछ व्याकरण सम्बन्धी अशुद्धियाँ भी मेरे समक्ष आई जिनका परिमार्जन गुरुजनों के सत्परामर्श से किया गया, तब कहीं आगे बढ़ने का पथ मिला। उदाहरणार्थ :—

(१) पारुष्यायाऽऽदिमांस्तत्र पूजिता न तु पंचमी।

(अ० पु०, अ० ३४०।४)

(२) महाप्राणोष्म-संयोग-प्रविमुक्तलघूत्तरौ।

(अ० पु०, अ० ३४०।४)

उपर्युक्त स्थलो पर तथा अन्यत्र भी कही-कही मूल पाठ के अन्य पाठान्तरों से प्रयोजन-सिद्धि का प्रयास किया गया है, पर, ऐसा कुछ स्थलों पर ही सम्भव हो सका।

मुझे इस ग्रन्थ के केवल काव्य शास्त्रीय भाग का अनुवाद प्रस्तुत करना है। अनुवाद में श्लोकों की विस्तृत व्याख्या भी प्रस्तुत की जा सकती थी, परन्तु मूल लेखक के भावों को समझाने के लिए शब्दानुवाद का ही आश्रय लेना अधिक समुचित समझा जाता है। अतः इस अनुवाद में मैंने आद्योपान्त मूल लेखक के भावों को ही हिन्दी में लाने का विनम्र प्रयास किया है। इसमें मुझे कितनी सफलता मिली है, इसका निर्णय गणमान्य विद्वानो पर ही है। साथ ही मै उनके सत्परामर्श एवं पथ-प्रदर्शन की भी अपेक्षा रखता हूँ।

इसी सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि शब्दालंकारों का अनुवाद करते समय आठ प्रकार के बन्धों का अनुवाद छोड़ दिया गया है। इसका एक कारण यह है कि इस समय हिन्दी कविता मे इस पद-चातुरी को विशेष महत्त्व नहीं दिया जाता। और दूसरा यह कि उदाहरणों के अभाव मे इन स्थलो का स्पष्टीकरण सहज नहीं है। काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों, 'काव्यादर्श, काव्यालंकार, सरस्वती-कण्ठाभरण' आदि में प्रस्तुत उदाहरणों से ये परिभापाएँ स्पष्ट की जा सकती थीं, पर यह कार्य कष्टसाध्य तो है ही, साथ ही आज के युग के लिये नितान्त असामयिक तथा अनुपयोगी भी है। अतः इस स्थल का अनुवाद प्रस्तुत न करना ही उचित समझा गया। हाँ, परिशिष्ट में इन बन्धों के प्राप्त चित्र दे दिये गये हैं ताकि इनमें रुचि रखनेवाले पाठक इस मस्तिप्क-व्यायाम से मनोरंजन प्राप्त कर सक।

यह अनुवाद आदरणीय डा० नगेन्द्र, डी० लिट्, अध्यक्ष हिन्दी-विभाग दिल्ली विश्वविद्यालय, की प्रेरणा एवं सत्परामर्श का परिणाम है, जिसे मैंने डा० सत्यदेव चौधरी, पी-एच० डी०, प्राध्यापक हंसराज कालेज, दिल्ली, के पथ-प्रदर्शन में प्रस्तुत किया है। इसके निर्माण में उन दोनों ने समय-समय पर मुझे जो सहायता प्रदान की है, उसके लिए मैं अत्यन्त विनीत भाव से उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

इनके अतिरिक्त मै पं०चन्द्रकात वाली का अत्यन्त आभारी हूँ, जिन्होंने अपने अमूल्य सुझावों द्वारा कठिन स्थलों के अनुवाद में सहायता देकर मेरे कार्य को सुगम करने में हाथ वटाया। मैं उन ग्रन्थकारों के प्रति भी, जिन के ग्रन्थों से मैंने सहायता ली है, अत्यन्त कृतज्ञ हूँ।

अन्त में मै हिन्दी अनुसंधान परिषद्, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली के प्रति भी अत्यन्त आभारी हूँ, जिसने इस ग्रन्थ का प्रकाशन कर मेरा उत्साह-वर्द्धन किया है।

I. F. 47, विनीत
लाजपतनगर, नई दिल्ली। रामलाल वर्मा

प्रथम अध्याय

काव्यादि लक्षण

अग्निरुवाच :

काव्यस्य नाटकादेश्च अलंकारान्वदाम्यथ ।
ध्वनिर्वर्णाः पदं वाक्यमित्येतद् वाङ्मयं मतम् ॥१॥

अर्थ : अग्नि देवता ने कहा कि अब इसके पश्चात् काव्य, नाटक आदि के अलंकारों का वर्णन करता हूँ। ध्वनि, वर्ण, पद और वाक्य वाङ्मय कहलाता है।

शास्त्रेतिहासवाक्यानां त्रयं यत्र समाप्यते ।
शास्त्रे शव्दप्रधानत्वमितिहासेषु निष्ठता ॥२॥

अभिधायाः प्रधानत्वात्काव्यं ताभ्यां विभिद्यते ।

अर्थ : शास्त्र, इतिहास और काव्य ये तीनों वाङ्मय के अन्तर्गत आते हैं। शास्त्र में शव्द प्रधान होता है, इतिहास और कथाग्रन्थों में इतिवृत्तात्मकता का महत्त्व होता है, तथा काव्य में अभिधा शक्ति की प्रधानता के कारण, काव्य शास्त्र और इतिहास से पृथक् हो जाता है।

नरत्वं दुर्लभं लोके विद्या तत्र सुदुर्लभा ॥३॥

कवित्वं दुर्लभं तत्र शक्तिस्तत्र च दुर्लभा ।
व्युत्पत्तिर्दुर्लभा तत्र विवेकस्तत्र दुर्लभः ॥४॥

सर्वं शास्त्रमविद्वद्भिर्मृग्यमाणं न सिध्यति ।

अर्थ : संसार में मनुष्य जन्म की प्राप्ति वड़ी कठिनता से होती है। मनुष्य जन्म प्राप्त करके भी उसमें विद्या की उपलव्धि और भी कठिन है तथा कविता करने की शक्ति तो और भी दुष्प्राप्य है, ये सव मिल जाने पर भी लोक, शास्त्र, काव्य, इतिहासादि के अध्ययन द्वारा प्राप्त होनेवाली निपुणता और दुर्लभ है। (यह सव तत्त्ववेत्ताओं द्वारा ही सम्भव हो सकता

है, क्योंकि) अतत्त्ववेत्ताओं के द्वारा अन्वेषित शास्त्र किसी भी प्रकार से सफल सिद्ध नही होता ।

आदिवर्णा द्वितीयाश्च महाप्राणास्तुरीयकाः ॥५॥

वर्गेषु, वर्णवृन्दं स्यात्पदं सुप्तिङ्प्रभेदतः ।
संक्षेपाद्वाक्यमिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली ॥६॥

काव्यं स्फुरदलंकारं गुणवद्दोषवर्जितम् ।
योनिर्वेदश्च लोकश्च सिद्धमर्थादयोनिजम् ॥७॥

अर्थ : वर्ण वर्गो में बद्ध हैं । इनमें वर्ग के प्रथम, द्वितीय और चतुर्थ वर्ण महाप्राण कहाते है । वर्ण समुदाय का नाम पद है । पद के दो भेद हैं सुवन्त और तिङन्त । निष्कर्ष यह है कि इष्ट अर्थ से युक्त पदों के समूह का नाम वाक्य है ।

जिस वाक्य समूह में अलंकार स्पष्ट रूप से दिखायी दें तथा जो गुणों से युक्त और दोषों से मुक्त हो उसे काव्य कहते हैं । काव्य का आधार वेद है अथवा लोक परन्तु अर्थ की दृष्टि से काव्य अयोनिज है अर्थात् स्वतःसिद्ध है ।

देवादीनां संस्कृतं स्यात्प्राकृतं त्रिविधं नृणाम् ।
गद्यं पद्यं च मिश्रं च काव्यादि त्रिविधं स्मृतम् ॥८॥

अर्थ : काव्य या नाटक में संस्कृत भाषा का प्रयोग देवताओं के मुख से कराना चाहिए जब कि मनुष्यों के मुख से तीन प्रकार की प्राकृत (महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी) का प्रयोग कराना चाहिए । काव्य तीन प्रकार का कहा गया है । गद्य, पद्य, चम्पू ।

अपदः पदसंतानो गद्यं तदपि गद्यते ।
चूर्णकोत्कलिकावृत्तसंधिभेदात् त्रिरूपकम् ॥९॥

अर्थ : पद (चरण) रहित पद-समूह गद्य कहलाता है । चूर्णक, उत्कलिका और वृत्तसंधि ये तीन इसके रूप कहे गए हैं ।

अल्पाल्पविग्रहं नातिमृदुसंदर्भनिर्भरम् ।
चूर्णकं नामतो दीर्घसमासोत्कलिका भवेत् ॥१०॥

भवेन्मध्यमसंदर्भं नातिकुत्सितविग्रहम् ।
वृत्तच्छायाहरं वृत्तसंधि नैतत्किलोत्कटम् ॥११॥

अर्थ : जो गद्य अल्पाल्प समास से संयुक्त हो और जिसमें कर्कश शब्दावली का प्रयोग हो उसे चूर्णक गद्य कहते हैं ।

और जिस गद्य में लम्बे-लम्बे समास हों उसे उत्कलिका गद्य कहते हैं । जिस गद्य में शब्दावली न तो अति कर्कश हो, न ही अति कोमल हो और न ही समास प्रौढ़ स्तर का हो तथा जिसमे वृत्त की छाया अत्यन्त ही क्षीण हो वह वृत्तसंधि गद्य है ।

आख्यायिका कथा खण्डकथा परिकथा तथा ।
कथानिकेति मन्यन्ते गद्यकाव्यं च पंचधा ॥१२॥

अर्थ : आख्यायिका, कथा, खण्डकथा, परिकथा, कथानिका गद्य काव्य के ये पाँच प्रकार हैं ।

कर्तृवंशप्रशंसा स्याद्यत्र गद्येन विस्तरात् ।
कन्याहरण-संग्राम-विप्रलम्भविपत्तयः ॥१३॥

भवन्ति यत्र दीप्ताश्च रीतिवृत्तिप्रवृत्तयः ।
उच्छ्वासैश्च परिच्छेदो यत्र या चूर्णकोत्तरा ॥१४॥

वक्त्रं वाऽपरवक्त्रं वा यत्र साऽख्यायिका स्मृता ।

अर्थ : **आख्यायिका :** जिस गद्य काव्य में ग्रन्थकर्ता के वंश की प्रशस्ति विस्तारपूर्वक दी हुई हो, कन्याहरण, संग्राम, विप्रलम्भ-जन्य विपत्तियाँ हों, जहाँ रीति, वृत्ति, प्रवृत्ति अपने चमत्कृतरूप में प्रस्तुत की जाए, जिसके कथाभागों का नाम उच्छ्वास हो और जिसमें चूर्णक नामक गद्य का प्रयोग हो तथा जहाँ कथा नायक के मुख से कही गई हो अथवा किसी अन्य पात्र के मुख से उसे 'आख्यायिका' नामक गद्य-काव्य कहा जाता है ।

श्लोकैः स्ववंशं संक्षेपात्कविर्यत्र प्रशंसति ॥१५॥

मुख्यस्यार्थस्यावताराय भवेद्यत्र कथान्तरम् ।
परिच्छेदो न यत्र स्याद्भवेद्वा लम्बकैः क्वचित् ॥१६॥

सा कथा नाम; तद्गर्भे निबध्नीयाच्चतुष्पदीम् ।

भवेत्खण्डकथा

अर्थ : जिस गद्य-काव्य में ग्रन्थकार संक्षेप से श्लोकों द्वारा अपने वंश की प्रशंसा करता है। जहाँ मुख्य कथा को लाने के लिये अवान्तर कथा की सृष्टि की जाती है और जिसमें परिच्छेद नहीं होते अथवा कहीं-कहीं (ग्रन्थ-के अन्त में) समस्त वर्ण्य विषय प्रबन्ध में अनुस्यूत रहता है उसे 'कथा' नाम का गद्य-काव्य कहा गया है।

यदि कवि कथा-काव्य में चतुष्पदी का प्रयोग करता है तो उसे 'खण्ड-कथा' कहते हैं।

याऽसौ कथा परिकथा तयोः ॥१७॥

अमात्यं सार्थकं वाऽपि द्विजं वा नायकं विदुः।
स्यात्तयोः करुणं विद्धि विप्रलम्भश्चतुर्विधः ॥१८॥

समाप्यते तयोर्नाऽद्या सा कथामनुधावति।
कथाख्यायिकयोर्मिश्रभावात्परिकथा स्मृता ॥१९॥

भयानकं सुखपरं गर्भे च करुणो रसः।
अद्भुतोऽन्ते सुक्लृप्तार्थो नोदात्ता सा कथानिका ॥२०॥

अर्थ : कथा और परिकथा नामक गद्य-काव्यों में राज्य का मन्त्री, व्यापारी अथवा ब्राह्मण नायक होता है। इनमें करुण रस और चार प्रकार का विप्रलम्भ शृंगार होता है। इन दो गद्य-काव्य भेदों में से 'कथा' में घटना समाप्त नहीं की जाती, अपितु अधूरी छोड़ दी जाती है।

कथा और आख्यायिका के मिश्रित रूप को परिकथा कहते हैं।

कथानिका नामक गद्य काव्य में, सुखपरक भयानक रस, मध्य में करुण रस और अन्त में अद्भुत रस का परिपाक होता है। इस गद्य-काव्य का केन्द्रीभूत विषय उदात्त न होते हुए भी सुनियोजित अवश्य होना चाहिए।

पद्यं चतुष्पदी तच्च वृत्तं जातिरिति द्विधा।
वृत्तमक्षरसंख्येयमुक्थं तत्कृतिशेषजम् ॥२१॥

मात्राभिर्गणना यत्र सा जातिरिति काश्यप ।
सममर्धसमं वृत्तं विषमं पैङ्गलं त्रिधा ॥२२॥

सा विद्या नौस्तितीर्षूणां गंभीरं काव्यसागरम् ।

अर्थ : हे काश्यप ! पद्य में भी चार पाद होते हैं । वृत्त और जाति इस के दो भेद है । जहाँ नियमानुसार अक्षरों की संख्या की जाती है उसे वृत्त, जहाँ मात्राओं की गणना की जाती है उसे जाति छन्द कहते है । छन्द:शास्त्र के अनुसार सम, अर्धसम और विषम, छन्द के ये तीन भेद माने गये है । छन्द:शास्त्र का ज्ञान काव्य रूपी गम्भीर सागर को पार करने के लिये नाव की तरह सहायक है ।

महाकाव्यं कलापश्च पर्याबन्धो विशेषकम् ॥२३॥

कुलकं मुक्तकं कोष इति पद्यकुटुम्बकम् ।

अर्थ : महाकाव्य, कलाप, पर्याबन्ध, विशेषक, कुलक, मुक्तक, और कोष ये पद्य के भेद है ।

सर्गबन्धो महाकाव्यमारब्धं संस्कृतेन यत् ॥२४॥

तादात्म्यमजहत्तत्र तत्समं नातिदुष्यति ।
इतिहासकथोद्भूतमितरद् वा सदाश्रयम् ॥२५॥

मंत्रदूतप्रयाणाजिनियतं नातिविस्तरम् ।
शक्वर्याऽतिजगत्याऽतिशक्वर्या त्रिष्टुभा तथा ॥२६॥

पुष्पिताग्रादिभिर्वक्त्राभिजनैश्चारुभिः समैः ।
युक्ता तु भिन्नवृत्तान्ता नातिसंक्षिप्तसर्गकम् ॥२७॥

अतिशक्वरिकाष्टिभ्यामेकसंकीर्णकैः परः ।
मात्रयाऽप्यपरः सर्गः प्राशस्त्येषु च पश्चिमः ॥२८॥

कल्पोऽतिनिन्दितस्तस्मिन्विशेषानादरः सताम् ।
नगरार्णवशैलर्तुचन्द्रार्काश्रमपादपैः ॥२९॥

उद्यानसलिलक्रीड़ामधुपानरतोत्सवैः ।
दूतीवचनविन्यासैरसतीचरिताद्भुतैः ॥३०॥

तमसा मरुताऽप्यन्यैर्विभावैरतिनिर्भरैः ।
सर्ववृत्तिप्रवृत्तं च सर्वभावप्रभावितम् ॥३१॥

सर्वरीतिरसैः स्पृष्टं पुष्टं गुणविभूषणैः ।
अत एव महाकाव्यं तत्कर्ता च महाकविः ॥३२॥

वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम् ।
पृथक्प्रयत्न निर्वर्त्यं वाग्विक्रमणि रसाद्वपुः ॥३३॥

चतुर्वर्गफलं विश्वग्व्याख्यातं नायकाख्यया ।

अर्थ : महाकाव्य का विभाजन सर्गों में होता है और आरम्भ संस्कृत से होता है। स्वरूप को न छोडते हुए, अन्य भाषा प्राकृत आदि से आरंभ करना भी दोष नहीं। इसका इतिवृत्त इतिहास की कथा से संवन्धित हो अथवा सभ्यो मे प्रचलित हो। मंत्रणा, दूत प्रेषण, युद्धादि का अति विस्तार न हो। शक्वरी, अतिजगती, अति शक्वरी, त्रिष्टुप्, पुष्पिताग्रा, वक्त्रादि छन्दों से समन्वित हो। सर्गान्त मे छन्द वदला हुआ हो और सर्ग अति संक्षिप्त न हो। अतिशक्वरी आदि छन्दों के साथ-साथ कोई सर्ग मात्रा छन्दों से भी रचित होना चाहिए। जिस पद्धति में सज्जनों का अनादर होता है वह निन्दित है अतः यहाँ वह त्याज्य है। नगर-वर्णन, समुद्र, पर्वत, ऋतु, चन्द्र, सूर्य, आश्रम, पादप, उद्यान, जलक्रीड़ा, मद्यपानादि उत्सवों तथा दूती वचन, कुलटाओं के विस्मयजनक चरित्रों के साथ-साथ गाढ़ान्धकार, प्रचण्ड पवन, आदि-आदि लोकातिशायी तत्त्वों की चर्चा से महाकाव्य संयुक्त होना चाहिये। इसका कथानक सव प्रकार की वृत्तियो से समन्वित हो, सव प्रकार के भावों से संकलित हो, रीति तथा रस से संयुक्त हो तथा अलंकारों से पुष्ट हो। इस प्रकार के गुणों से संयुक्त महाकाव्य का रचयिता महाकवि कहाता है। इस महाकाव्य में विविधवाक्-कौशलों की प्रधानता होते हुए भी इसकी आत्मा तो रस ही है अतः कवि व्यर्थ के वाग्-विक्रम को छोड़कर इसका कलेवर रस-सिक्त वनाये और नायक की कथा से चतुर्वर्ग की फल प्राप्ति को दर्शाये।

समानवृत्तनिर्व्यूढः कौशिकीवृत्तिकोमलः ॥३४॥

कलापोऽत्र प्रवासः प्रागनुरागादयो रसः ।

अर्थ : जिसमें केवल एक ही छन्द का प्रयोग हो, जो कौशिकी वृत्ति के प्रयोग द्वारा कोमल बनाया गया हो, उसे 'कलापक' कहते हैं । इसमें प्रवास और पूर्वराग का समावेश होना चाहिए ।

सविशेषकं प्राप्त्यादि संस्कृतेनेतरेण च ॥३५॥

श्लोकैरनेकैः कुलकं स्यात्संदानितकानि तत् ।

अर्थ : 'सविशेषक' उसे कहते हैं जिसमें संस्कृत भाषा अथवा किसी अन्य भाषा में काव्य सामग्री की प्राप्ति हो । 'कुलक' नामक काव्य में विभिन्न छः छन्दों का प्रयोग होता है इसे 'संदानितक' भी कहते हैं ।

मुक्तकं श्लोक एकैकश्चमत्कारक्षमः सताम् ॥३६॥

'मुक्तक' रचना वह होती है, जिसका प्रत्येक श्लोक सहृदयों को प्रभावित करने में समर्थ होता है ।

सूक्तिभिः कविसिंहानां सुन्दरीभिः समन्वितः ।
कोषो ब्रह्मपरिच्छिन्नः स विदग्धाय रोचते ॥३७॥

आभासोपमशक्तिश्च सर्गे यद्भिन्नवृत्तता ।
मिश्रं वपुरिति ख्यातं प्रकीर्णमिति च द्विधा ॥३८॥

श्रव्यं चैवाभिनेयं च प्रकीर्णं सकलोक्तिभिः ॥

अर्थ : 'कोष' नामक काव्य, शिरोमणि कवियों की प्रभावशाली सूक्तियों का संग्रह होता है । इसमें रस का प्रवाह सतत प्रवहमान होता है । चतुर सहृदयों को यह अति प्रिय होता है । इसमें रसाभास और उपशम की शक्ति होती है और एक ही सर्ग में भिन्न-भिन्न छन्दों का प्रयोग रहता है । इसके दो भेद हैं 'मिश्रित और प्रकीर्णक ।' प्रथम तो श्रव्य भी होता है और अभिनेय भी । 'प्रकीर्ण' में एक प्रकार की उक्तियाँ होती हैं ।

द्वितीय अध्याय

नाटक निरूपणम्

अग्निरुवाच :

नाटकं सप्रकरणं डिम ईहामृगोऽपि वा।
ज्ञेयः समवकारश्च भवेत्प्रहसनं तथा ॥१॥

व्यायोगभाणवीथ्यङ्कत्रोटकान्यथ नाटिका।
सट्टकं शिल्पकः कर्ण एको दुर्मल्लिका तथा ॥२॥

प्रस्थानं भाणिका भाणी गोष्ठी हल्लीशकानि च।
काव्यं श्रीगदितं नाट्यरासकं रासकं तथा ॥३॥

उल्लाप्यकं प्रेङ्क्षणं च सप्तविंशतिधैव तत्।

अर्थ : अग्नि ने कहा कि दृश्य काव्य सत्ताईस प्रकार का होता है। नाटक, प्रकरण, डिम, ईहामृग, समवकार, प्रहसन, व्यायोग, भाण, वीथी, अङ्क, त्रोटक, नाटिका, सट्टक, शिल्पक, कर्ण, दुर्मल्लिका, प्रस्थान, भाणिका, भाणी, गोष्ठी, हल्लीशक, श्रीगदित, नाट्यरासक, रासक, उल्लाप्यक, प्रेङ्क्षण।

सामान्यं च विशेषश्च लक्षणस्य द्वयी गतिः ॥४॥

सामान्यं सर्वविषयं विशेषः क्वापि वर्तते।

अर्थ : नाटक लक्षण की दो प्रकार की प्रवृत्तियाँ हैं, सामान्य और विशेष। प्रथम प्रकार की प्रवृत्तियाँ सब नाटकों में होती हैं और द्वितीय प्रकार की कहीं-कहीं।

पूर्वरङ्गे निवृत्ते द्वौ देशकालावुभावपि ॥५॥

रसभावविभावानुभावा अभिनयास्तथा ।
अङ्कः स्थितश्च सामान्यं सर्वत्रैवोपसर्पणात् ।।६।।

विशेषोऽवसरे वाच्यः सामान्यं पूर्वमुच्यते ।

अर्थ : पूर्व रंग के पश्चात्, देश और काल का संकलन, रस, भाव, विभाव, अनुभाव, अभिनय तथा अङ्क विभाजन, कार्यावस्थाओं का प्रतिपादन, ये सभी नाटक की सामान्य प्रवृत्तियाँ हैं क्योंकि इनकी उपस्थिति सर्वत्र रहती है। विशेष प्रवृत्तियों का प्रयोग अवसर विशेप पर होना चाहिये, जब कि सामान्य के विषय में कह दिया है।

त्रिवर्गसाधनं नाट्यमित्याहुः करणं च यत् ।।७।।

इतिकर्तव्यता तस्य पूर्वरङ्गो यथाविधि ।
नान्दीमुखानि द्वात्रिंशदङ्गानि पूर्वरङ्गके ।।८।।

देवतानां नमस्कारो गुरूणामपि च स्तुति. ।
गोब्राह्मणनृपादीनामाशीर्वादादि गीयते ।।९।।

अर्थ : नाटक त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, काम की प्राप्ति) का हेतु भूत साधन है। पूर्व रंग में विधिपूर्वक नान्दी आदि बत्तीस अगों का निर्वाह करना चाहिए। इस स्थल पर देवताओ को नमस्कार, गुरुजनों की प्रशंसा, गो-ब्राह्मण और राजा के आशीप का गायन किया जाता है।

नान्द्यन्ते सूत्रधारोऽसौ रूपकेषु निबध्यते ।
गुरुपूर्वक्रमं वंशप्रशंसा पौरुषं कवेः ।।१०।।

संबन्धार्थौ च काव्यस्य पञ्चैतानेप निर्दिशेत् ।

अर्थ : रूपकों में नान्दी के पश्चात् सूत्रधार का समावेश किया जाता है। वह सूत्रधार इन पाँच बातों का निर्देश करे—कवि (रूपककार) की गुरु-परम्परा, वंशोल्लेख तथा पौरुप (काव्यशक्ति), काव्य (रूपक) की पूर्व कथा का संबन्ध और प्रयोजन।

नटी विदूषको वाऽपि पारिपार्श्विक एव च ।।११।।

सहिताः सूत्रधारेण संलापं यत्र कुर्वते ।
चित्रैर्वाक्यैः स्वकार्योत्थैः प्रस्तुताक्षेपिभिर्मिथः ॥१२॥

आमुख्यं तत्तु विज्ञेयं बुधैः प्रस्तावनाऽपि सा ।
प्रवृत्तकं कथोद्घातः प्रयोगातिशयस्तथा ॥१३॥

आमुख्यस्य त्रयो भेदा बीजांशेषूपजायते ।

अर्थ : जहाँ सूत्रधार के साथ नटी, विदूषक अथवा पारिपार्श्विक स्वकार्य-सिद्धयर्थ चमत्कृत वाक्यों से परस्पर चर्चा करते हैं, नाटक के उसी स्थल को आमुख्य कहते हैं। विद्वानों ने इसे प्रस्तावना भी कहा है। इसके तीन भेद हैं —प्रवृत्तक, कथोद्घात और प्रयोगातिशय। ये तीनों नाटक के बीजांश से ही (यथाविधि) उत्पन्न होते हैं।

कालं प्रवृत्तमाश्रित्य सूत्रधृग्यत्र वर्णयेत् ॥१४॥

तदाश्रयस्य पात्रस्य प्रवेशस्तत्प्रवृत्तकम् ।

अर्थ : (क) जहाँ सूत्रधार किसी तत्कालीन चरित्र का आश्रय लेकर वर्णन करे और इस वर्णन के साथ ही तत्सम्बद्ध पात्र का प्रवेश हो तो वह प्रस्तावना प्रवृत्तक कहाती है।

सूत्रधारस्य वाक्यं वा यत्र वाक्यार्थमेव वा ॥१५॥

गृहीत्वा प्रविशेत्पात्रं कथोद्घातः स उच्यते ।

अर्थ : (ख) जहाँ पर सूत्रधार के वाक्य को अथवा उसके वाक्यार्थ को दोहराता हुआ कोई पात्र प्रवेश करे उसको कथोद्घात प्रस्तावना कहा जाता है।

प्रयोगेषु प्रयोगं तु सूत्रधृग्यत्र वर्णयेत् ॥१६॥

ततश्च प्रविशेत्पात्रं प्रयोगातिशयो हि सः ।

अर्थ : नाटको (की प्रस्तावना) में जब सूत्रधार अपने अभीष्ट कर्त्तव्य सम्पादन कर चुके और तब पात्र का प्रवेश हो तो वह प्रयोगातिशय नाम की प्रस्तावना कहाती है।

शरीरं नाटकादीनामितिवृत्तं प्रचक्षते ॥१७॥

सिद्धमुत्प्रेक्षितं चेति तस्य भेदावुभौ स्मृतौ।
सिद्धमागमदृष्टं च सृष्टमुत्प्रेक्षितं कवेः ॥१८॥

अर्थ : नाटक के इतिवृत्त (कथानक) को शरीर कहा जाता है। इतिवृत्त के दो भेद हैं—सिद्ध और उत्प्रेक्षित। आगम (शास्त्र) से प्राप्त कथानक सिद्ध कहाता है और कविकल्पना-प्रसूत कथानक उत्प्रेक्षित।

बीजं बिन्दुः पताका च प्रकरी कार्यमेव च।
अर्थप्रकृतयः पञ्च पञ्च चेष्टा अपि क्रमात् ॥१९॥

प्रारम्भश्च प्रयत्नश्च प्राप्तिः सद्भाव एव च।
नियता च फलप्राप्तिः फलयोगश्च पञ्चमः ॥२०॥

अर्थ : नाटक की अर्थप्रकृतियाँ पाँच हैं—बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी, कार्य, और इसकी चेष्टायें (कार्यावस्थायें) भी पाँच हैं—प्रारंभ, प्रयत्न, सद्भाव, फल-प्राप्ति, फलयोग।

मुखं प्रतिमुखं गर्भो विमर्शश्च तथैव च।
तथा निर्हरणं चेति क्रमात्पञ्चैव संधयः ॥२१॥

अर्थ : नाटक में क्रमशः पाँच संधियाँ होती हैं—मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श और निर्हरण।

अल्पमात्रं समुद्दिष्टं बहुधा यत्प्रसर्पति।
फलावसानं यच्चैव बीजं तदभिधीयते ॥२२॥

अर्थ : जहाँ संकेत मात्र से ही फल प्राप्ति तक की समस्त कथावस्तु ज्ञात-सी हो जाये, उस कार्यावस्था को बीज कहते हैं।

यत्र बीजसमुत्पत्तिर्नानार्थरससंभवा।
काव्ये शरीरानुगतं तन्मुखं परिकीर्तितम् ॥२३॥

अर्थ : जहाँ चमत्कृत अर्थ, रस आदि से युक्त उपर्युक्त 'बीज' नामक

कार्यावस्था होती है वहाँ नाटकीय कथावस्तु का अनुकारक स्थल मुख संधि कहाता है।

इष्टस्यार्थस्य रचना वृत्तान्तस्यानुपक्षयः।
रागप्राप्तिः प्रयोगस्य गुह्यानां चैव गूहनम् ॥२४॥

आश्चर्यवदभिख्यातं प्रकाशानां प्रकाशनम्।
अंगहीनो नरो यद्वन्न श्रेष्ठं काव्यमेव च ॥२५॥

अर्थ : मुख संधि में ही अभीष्ट कथावस्तु की रचना, वृत्त (कथा) का अनुपक्षय अर्थात् अक्षीयमाणस्वरूप, प्रयोग (नाटक) की आनन्दमयी स्थिति, गोपनीय बातों का गोपन, ख्यात (घटना सूत्र) का आश्चर्यमयी पद्धति से कथन, प्रकाशनीय तथ्यों का प्रकाशन, इन नाटकीय गुणों का उल्लेख होना चाहिए। इन उपरोक्त गुणों से रहित काव्य अंगहीन मनुष्य की भाँति श्रेष्ठ नहीं बन सकता।

देशकालैर्विना किंचिन्नेतिवृत्तं प्रवर्तते।
अतस्तयोरुपादानं नियमात्पदमुच्यते ॥२६॥

अर्थ : देश और काल के विना कोई भी कथानक प्रस्तुत नही किया जा सकता। अतः नाटक में इनकी उपस्थिति नियमपूर्वक होनी चाहिए।

देशेषु भारतं वर्षं काले कृतयुगत्रयम्।
नर्ते ताभ्यां प्राणभृतां सुखदुःखोदयः क्वचित् ॥

सर्गे सर्गातिवार्ता च प्रसञ्जन्ती न दुष्यति ॥२७॥

अर्थ : नाटक के दृश्य सदा भारत के ही होने चाहिएँ और कालों में सत्ययुग, त्रेता और द्वापर इन तीन का उल्लेख होना चाहिए।

देश और काल के सम्यक् उल्लेख के विना दर्शकों में सुख और दुःख की अनुभूति ठीक प्रकार से नही कराई जा सकती। अक में सृष्टि की आरंभिक कथा का दिखाना भी दोष नहीं है।

तृतीय अध्याय

श्रृंगारादि रस निरूपणम्

अग्निरुवाच :

अक्षरं परमं ब्रह्म सनातनमजं विभुम् ।
वेदान्तेषु वदन्त्येकं चैतन्यं ज्योतिरीश्वरम् ॥१॥

(शृंगारादि रस का निरूपण)

अर्थ : अग्नि देवता ने कहा कि वह परब्रह्म परमेश्वर अक्षय है। वह शाश्वत, अजन्मा और (समस्त सृष्टि में) परिव्याप्त है। वेदान्त ग्रन्थों में उसे अद्वितीय ज्योतिर्मान् और सामर्थ्यवान् कहा गया है।

आनन्दः सहजस्तस्य व्यज्यते स कदाचन ।
व्यक्ति सा तस्य चैतन्यचमत्काररसाह्वया ॥२॥

अर्थ : उसका आनन्द स्वाभाविक है पर उसकी अभिव्यक्ति कभी-कभी होती है। उसी अभिव्यक्ति का नाम चैतन्य-चमत्कार अथवा रस है।

आद्यस्तस्य विकारो यः सोऽहंकार इति स्मृतः ।
ततोऽभिमानस्तत्रेदं समाप्तं भुवनत्रयम् ॥३॥

अर्थ : उस परब्रह्म का आदिम विकार अहकार कहाता है। उस अहंकार से अभिमान की उत्पत्ति हुई और उसी अभिमान में तीन (पृथ्वीलोक, पाताल-लोक, स्वर्गलोक) परिव्याप्त हैं।

अभिमानाद्रतिः सा च परिपोषमुपेयुषी ।
व्यभिचार्यादिसामान्याच्छृङ्गार इति गीयते ॥४॥

अर्थ : अभिमान से रति का जन्म होता है, और जब रति व्यभिचारी आदि भावों से परिपुष्ट होती है तक उसे श्रृंगार रस कहते हैं।

तद्भेदाः काममितरे हास्याद्या अप्यनेकशः ।
स्वस्वस्थायिविशेषोऽथ परिघोषस्वलक्षणाः ॥५॥

अर्थ : रति अथवा शृंगार के अनेक भेद है काम (शृंगार) हास्यादि। प्रत्येक रस का अपना-अपना स्थायीभाव है और उनके स्वरूप स्वनाम से ही स्पष्ट है।

सत्त्वादिगुणसंतानाज्जायन्ते परमात्मनः ।
रागाद्भवति शृङ्गारो रौद्रस्तैक्ष्ण्यात्प्रजायते ॥६॥

वीरोऽवष्टम्भजः संकोचभूर्बीभत्स इष्यते ।

अर्थ : ये स्थायीभाव परब्रह्म के सत्त्वादिगुणों के प्रसार से ही समुत्पन्न होते है। राग (प्रणय) से शृंगार की उत्पत्ति होती है, असहिष्णुता से रौद्र रस की, उत्साह से वीर रस की, संकोच अथवा ग्लानि से वीभत्स रस की उत्पत्ति होती है।

शृङ्गाराज्जायते हासो रौद्रात्तु करुणो रसः ॥७॥

वीराच्चाद्भुतनिष्पत्तिः स्याद् वीभत्साद् भयानकः ।

अर्थ : शृंगार रस से हास रस उत्पन्न होता है, रौद्र से करुण रस। वीर से अद्भुत रस की निष्पत्ति होती है और वीभत्स से भयानक रस की।

शृङ्गारहास्यकरुणा-रौद्रवीरभयानकाः ॥८॥

वीभत्साद्भुतशान्ताख्याः स्वभवाश्चतुरो रसाः ।
लक्ष्मीरिव विना त्यागान्न वाणी भाति नीरसा ॥९॥

अर्थ : शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स, अद्भुत, शान्त ये नौ रस है। इनमें से शृंगार, रौद्र, वीर, वीभत्स ये चार रस स्वाधीन (स्वाभाविक) हैं (और शेष परजन्य)। जिस प्रकार विना दान के लक्ष्मी शोभित नहीं होती, इसी प्रकार कविता (वाग्देवी) भी रसों के विना शोभित नही होती।

अपारे काव्यसंसारे कविरेव प्रजापतिः ।
यथा वै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते ॥१०॥

अर्थ : कवि इस अपार काव्य-जगत् का निर्माता है। इसे जो वस्तु जिस प्रकार अच्छी लगती है यह उसे वैसे ही बनाता है।

शृङ्गारी चेत्कविः काव्ये जातं रसमयं जगत्।
स चेत्कविर्वीतरागो नीरसं व्यक्तमेव तत् ॥११॥

अर्थ : यदि कवि शृंगारी प्रकृति का अर्थात् सहृदय होगा तो उसकी सृष्टि अर्थात् रचना भी सरस होगी। पर यदि वह नीरस होगा तो उसका काव्य भी नीरस ही होगा।

न भावहीनोऽस्ति रसो न भावो रसविवर्जितः।
भावयन्ति रसानेभिर्भाव्यन्ते च रसा इति ॥१२॥

अर्थ : न तो रस के विना कोई भाव होता है और न ही भाव के विना रस। इन भावों से रसों का भावन किया जाता है और रसों के द्वारा भावों का।

स्थायिनोऽष्टौ रतिमुखाः स्तम्भाद्या व्यभिचारिणः।
मनोनुकूलेऽनुभवः सुखस्य रतिरिष्यते ॥१३॥[1]

अर्थ : रत्यादि आठ स्थायी भाव कहाते हैं और स्तम्भादि (आठ) व्यभिचारी भाव। सुख के मनोनुकूल अनुभव का नाम 'रति' है।

हर्षादिभिश्च मनसो विकासो हास उच्यते।
मनोवैकल्यमिच्छन्ति शोकमिष्टक्षयादिभिः ॥१४॥

अर्थ : हर्षादि से मन का जो विकास होता है उसे हास कहते हैं। प्रिय वस्तु के विनाशादि से मन में होने वाली विकलता का नाम शोक है।

विस्मयोऽतिशयेनार्थ-दर्शनाच्चित्तविस्मृतिः।

अर्थ : किसी लोकातिशायी वस्तु के देखने से उत्पन्न चित्तविस्तार को विस्मय कहा गया है।

---

१. यहाँ स्तम्भादि को व्यभिचारी कहा गया है जब कि आगे आठ स्तम्भों और तैंतीस व्यभिचारियों के लक्षण पृथक्-पृथक् दिए गए हैं।

क्रोधस्तैक्ष्ण्यं प्रबोधश्च प्रतिकूलानुकारिणी ।
पुरुषानुसमोऽप्यर्थो यः स उत्साह उच्यते ॥१५॥

अर्थ : किसी प्रतिकूल परिस्थिति में समुत्पन्न तीक्ष्णता का नाम क्रोध है ।

हृदय में उत्पन्न पौरुष को 'उत्साह' कहा जाता है ।

चित्रादिदर्शनाच्चेतोवैक्लव्यं ब्रुवते भयम् ।
जुगुप्सा च पदार्थानां निन्दादौर्भाग्यदाहिनाम् ॥१६॥

अर्थ : किसी चित्र अथवा भयंकर दृश्य को देखने से चित्त को जो व्याकुलता होती है उसे भय कहते हैं । गन्दी वस्तुओं के निन्दात्मक भाव का नाम जुगुप्सा कहाता है ।

अष्टौ स्तम्भादयः सत्वाद्रजसस्तमसः परम् ॥१७॥

स्तम्भश्चेष्टाप्रतीघातो भयरागाद्युपाहितः ।

अर्थ : आठ स्तम्भादि भाव त्रिगुणातीत माने गये हैं, भय या रति की अधिकता के कारण निश्चेष्ट होने का नाम स्तम्भ है ।

श्रमरागाद्युपेतान्तः क्षोभजन्म वपुर्जलम् ॥१८॥

स्वेदो हर्षादिभिर्देहोच्छ्वासोऽन्तः पुलकोद्गमः ।
हर्षादिजन्मवाक्सङ्गः स्वरभेदो भयादिभिः ॥१९॥

अर्थ : श्रम, प्रणय, भय के आधिक्य के कारण अन्तर्मंथन द्वारा शरीर पर आने वाली आर्द्रता को स्वेद कहते हैं ।

हर्ष, भय आदि के कारण होने वाले शारीरिक उच्छ्वास को पुलक कहते हैं । हर्ष, भयादि के कारण होने वाले कंठावरोध को स्वर भेद कहते हैं ।

चित्तक्षोभभवः स्तम्भो वेपथुः परिकीर्तितः ।
वैवर्ण्यं च विषादादिजन्मा कान्तिविपर्ययः ॥२०॥

दुःखानन्दादिजं नेत्रजलमश्रु च विश्रुतम् ।
इन्द्रियाणामस्तमयः प्रलयो लङ्घनादिभिः ॥२१॥

अर्थ : हृदय के विक्षोभ स्वरूप होने वाले स्तम्भ को वेपथु कहा गया है।

विषाद भयादि के कारण होने वाली रूप या कवि की म्लानता को वैवर्ण्य कहते हैं। दुःख, आनन्दादि से नेत्रों में उत्पन्न या दृश्यमान जल को अश्रु कहा जाता है। अनशनादि के कारण इन्द्रियों की विकलता प्रलय कहलाती है।

वैराग्यादेर्मनःखेदो निर्वेद इतिकथ्यते ।
मनःपीडादिजन्मा च सादो ग्लानिः शरीरगा ॥२२॥

अर्थ : वैराग्य या दुःख के कारण मन में उत्पन्न खेद को निर्वेद कहते हैं। मानसिक पीड़ादि से प्रसूत अवसाद जब अभिव्यक्त होता है तो उसे ग्लानि कहते हैं।

शंकाऽनिष्टागमोत्प्रेक्षा स्यादसूया च मत्सरः ।
मदिराद्युपयोगोत्थं मनःसंमोहनं मदः ॥२३॥

अर्थ : अनिष्ट आगमन की कल्पना को आशंका कहते हैं। मात्सर्य को ही असूया कहते हैं। मदिरा आदि के सेवन से जो मानसिक शिथिलता होती है उसे मद कहते हैं।

क्रियातिशयजन्माऽन्तःशरीरोत्थक्लमः श्रमः ।
शृङ्गारादिक्रियाद्वेषश्चित्तस्याऽऽलस्यमुच्यते ॥२४॥

अर्थ : कार्याधिक्य के फलस्वरूप उद्भूत शारीरिक क्लान्ति को श्रम कहते हैं। शृंगारादि क्रियाओं से चित की उदासी आलस्य कही जाती है।

दैन्यं सत्त्वादपभ्रंशश्चिन्तार्थपरिभावनम् ।
इतिकर्तव्यतोपायादर्शनं मोह उच्यते ॥२५॥

अर्थ : स्व-अपमान का चिन्तन करते हुए सत्त्व से अपभ्रंश होने का नाम दैन्य है। करणीय उपाय के न सूझने की अवस्था को मोह कहते हैं।

स्मृतिः स्यादनुभूतस्य वस्तुनः प्रतिविम्बनम् ।
मतिरर्थपरिच्छेदस्तत्वज्ञानोपनायितः ॥२६॥

अर्थ : किसी पूर्वानुभूत वस्तु के प्रत्यभिज्ञान को स्मृति कहते हैं। तत्व ज्ञान की सहायता से अर्थ धारण का नाम मति है।

व्रीडानुरागादिभवः संकोचः कोऽपि चेतसः ।
भवेच्चपलताऽस्थैर्यं हर्षश्चित् प्रसन्नता ॥२७॥

अर्थ : अनुरागादि के कारण चित्त में होने वाले संकोच को व्रीड़ा कहते हैं। चित्त की अस्थिरता ही चपलता होती है और चित्त की प्रसन्नता को हर्ष कहते हैं।

आवेशश्च प्रतीकाराशया वैधुर्यमात्मनः ।
कर्तव्ये प्रतिभाभ्रंशो जडतेत्यभिधीयते ॥२८॥

अर्थ : प्रतिकार की भावना से व्यक्ति मे आने वाले उद्वेग को आवेग कहते हैं। कर्तव्य मे प्रतिभा के कुण्ठित होने को 'जडता' कहा जाता है।

इष्टप्राप्तेरुपचितः संपदाभ्युदयो धृतिः ।
गर्व. परेष्ववज्ञानमात्मन्युत्कर्षभावना ॥२९॥

अर्थ : लक्ष्य प्राप्ति से प्राप्त आत्म-संयम की भावना को धृति कहते हैं। आत्मोत्कर्प की भावना से दूसरों के तिरस्कार करने या अनादर करने को गर्व कहते हैं।

भवेद्विषादो दैवादेर्विघातोऽभीष्टवस्तुनि ।
औत्सुक्यमीप्सिताप्राप्तेर्वाञ्छया तरला स्थितिः ॥३०॥

अर्थ : किसी दैवी कारण से प्रिय वस्तु के विनाश से जो आघात पहुँचता है उसे विपाद कहते हैं। ईप्सित वस्तु की प्राप्त्यर्थ जो मन की चंचल अवस्था होती है उसे औत्सुक्य कहते है।

चित्तेन्द्रियाणां स्तैमित्यमपस्मारो अवस्थितिः ।
युद्धे व्याघादिभिस्त्रासो वीप्सा चित्तचमत्कृतिः ॥३१॥

अर्थ : चित्त की जड़ता और इन्द्रियों की विक्षुब्धावस्था को अपस्मार कहते हैं।

युद्ध में अथवा व्याघ्रादि से होने वाले भय में जो आश्चर्य होता है उसे वीप्सा कहते हैं।

क्रोधस्याप्रशमोऽमर्षः प्रबोधश्चेतनोदयः ।
अवहित्थं भवेद्गुप्तिरिङ्गिताकारगोचरा ॥३२॥

अर्थ : क्रोध के शान्त न होने को 'अमर्ष' कहते हैं। चेतना के उदय का नाम 'प्रबोध' है। जब रहस्य इङ्गित और आकार के द्वारा स्पष्ट होता है तो उसे अवहित्था कहते है।

रोषतो गुरुवाग्दण्डपारुष्यं विदुरुग्रताम् ।
ऊहो वितर्कः स्याद् व्याधिर्मनोवपुरवग्रहः ॥३३॥

अर्थ : क्रोध से परुष असंयत शब्दावली के प्रयोग को उग्रता कहते हैं। किसी प्रस्तुत समस्या के आधार पर तर्क-वितर्क की सम्भावना 'ऊहा' है। मन और शरीर की जड़ता को व्याधि कहते है।

अनिबद्धप्रलापादिरुन्मादो मदनादिभिः ।
तत्त्वज्ञानादिना चेतःकषायोपरमः शमः ॥३४॥

अर्थ : कामादि दशा के कारण जो अनर्गल प्रलाप किया जाता है उसे उन्माद कहते है। तत्त्वज्ञानादि के कारण चित्त की संसार से उदासीनता को शम कहते है।

कविभिर्योजनीया वै भावाः काव्यादिके रसाः ।
विभाव्यते हि रत्यादिर्यत्र येन विभाव्यते ॥३५॥

अर्थ : कवियों को चाहिए कि वे काव्य आदि मे भावों को संबंधी रसों के साथ संयोजित करे। रत्यादि भावों (स्थायी) के कारण रस उत्कर्ष को पहुँच कर अनुभूति का विषय बनता है।

विभावो नाम स द्वेधाऽऽलम्बनोद्दीपनात्मकः ।
रत्यादिभाववर्गोऽयं यमाजीव्योपजायते ॥३६॥

आलम्बनविभावोऽत्तौ नायकादिभवस्तया ।

अर्थ : विभाव के आलम्बन और उद्दीपन दो भेद होते हैं। रत्यादि स्थायी भावों का वर्ग इस आलम्बन का ही उपजीवी होता है। यह आलम्बन विभाव नायकादि में ही होता है अथवा नायकादि को आलम्बन विभाव कहते हैं।

धीरोदात्तो धीरोद्धतः स्याद्धीरललितस्तया ॥३७॥

धीरप्रशान्त इत्येवं चतुर्धा नायकः स्मृतः ।
अनुकूलो दक्षिणश्च शठो धृष्टः प्रवर्तितः ॥३८॥

अर्थ : धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित, धीरप्रशान्त ये नायक के चार भेद किये गये हैं। प्रत्येक भेद के अनुकूल, दक्षिण, शठ, धृष्ट ये चार उपभेद होते हैं।

पीठमर्दो विटश्चैव विदूषक इति त्रयः ।
श्रृंगारे नर्मसचिवा नायकस्यानुनायकाः ॥३९॥

अर्थ : श्रृंगार रस में नायक को नायिका से मिलाने में तीन सहायक कहे गए हैं।

पीठमर्द, विट और विदूषक।

पीठमर्दस्तु कुशलः श्रीमांस्तद्देशजो विटः ।
विदूषको वैहसिक अ (स्त्व) ष्ट नायकनायिकाः ॥४०॥

अर्थ : पीठमर्द नायक का कुशल सहायक होता है, विट उसका तद्देशज (अन्तरंग) मित्र होता है और विदूषक विनोदी सहायक।

नायक और नायिका के प्रमुख भेद आठ-आठ है।

नायिका भेद :

स्वकीया परकीया च पुनर्भूरिति कौशिकाः ।
सामान्या न पुनर्भूरित्याद्या बहुभेदतः ॥४१॥

अर्थ : कौशिक के मत में नायिकाएँ तीन प्रकार की हैं : स्वकीया,

परकीया और पुनर्भू। कई विद्वानों के विचार में सामान्या नायिका होती है, पुनर्भू नहीं होती। इस प्रकार नायिका के अनेक भेद है।

उद्दीपनविभावास्ते संस्कारैर्विविधैः स्थिताः।
आलम्बनविभावेषु भावानुद्दीपयन्ति ये ॥४२॥

अर्थ : इन विविध नायिकाओं में उद्दीप्त करने वाले संस्कार रहते है। जो आलम्बन विभावों मे विविध भावो को उद्दीप्त कर देते है।

चतु.षष्टिकला द्वेधा कर्माद्यैर्गीतिकादिभि.।
कुहकं स्मृतिरप्येषां प्रायो हासोपहारकः ॥४३॥

अर्थ : चौसठ कलाओं के दो भाग हैं कर्मादि (अभिनय) और गीतादि। इनकी छलपूर्वक की गई स्मृति भी प्रायः हास्य लाने वाली होती है।

आलम्बनविभावस्य भावैरुद्बुद्धसंस्कृतैः।
मनोवाग्बुद्धिवपुषां स्मृतीच्छाद्वेषयत्नतः ॥४४॥

आरम्भ एवं विदुषामनुभाव इति स्मृतः।
स चानुभूयते चात्र भवत्युत निरुच्यते ॥४५॥

अर्थ : मन की स्मृति से, वाणी की इच्छा से, बुद्धि की प्रेरणा से एवं शरीर के यत्न से, आलम्बन विभाव के उद्बुद्ध एवं परिष्कृत भावों के आरम्भ को विद्वानों ने अनुभाव कहा है। क्योंकि इसका अनुभव किया जाता है। इसीलिये इसे अनुभाव कहते है।

मनोव्यापारभूयिष्ठो मन-आरम्भ उच्यते।
द्विविधः पौरुषः स्त्रैण ईदृशोऽपि प्रतिष्यति ॥४६॥

अर्थः मानसिक व्यापारों के आधिक्य को ही 'मन आरम्भ' कहा जाता है। वे दो प्रकार के होते है पुरुप के और स्त्री के।

शोभा विलासो माधुर्यं स्थैर्यं गाम्भीर्यमेव च।
ललितं च तथौदार्यं तेजोऽष्टाविति पौरुषाः ॥४७॥

अर्थ : पुरुप में रहने वाले भाव आठ प्रकार के होते है। शोभा, विलास, माधुर्य, गाम्भीर्य, ललित, औदार्य, तेज।

शोभा लक्षण :

नीचनिन्दोत्तमस्पर्धा शौर्य दाक्षा(क्ष्या)दिकारणम् ।
मनोधर्मे भवेच्छोभा शोभते भवनं यथा ॥४८॥

अर्थ : शूरता और दक्षता (चतुरता) आदि के कारण नीचों की निन्दा, उत्तम जनों के प्रति स्पर्धा को शोभा (मनो व्यापार) कहते हैं। इससे व्यक्ति की शोभा इस प्रकार होती है जैसे प्रसाधनों से भवन की।

भावो हारश्च हेला च शोभा कान्तिस्तथैव च ।
दीप्तिर्माधुर्यशौर्ये च प्रागल्भ्यं स्यादुदारता ॥४९॥

स्थैर्य गम्भीरता स्त्रीणां विभावा द्वादशेरिताः ।

अर्थ : भाव, हार, हेला, शोभा, कान्ति, दीप्ति, माधुर्य, शौर्य, प्रागल्भ्य या प्रगल्भता, उदारता, स्थिरता, गम्भीरता, ये बारह प्रकार के विभाव स्त्रियों के माने गये हैं।

भावादि लक्षण :

भावो विलासो हावः स्याद् भावः किंचिच्च हर्षजः ॥५०॥

वाचोयुक्तिर्भवेद्वागारम्भो द्वादश एव सः ।

अर्थ : भाव के विलास को ही हाव कहते हैं। इसमें हर्ष रहता है। वचन वक्रता को ही वागारम्भ कहते हैं और वह बारह प्रकार का होता है।

तत्र भाषणमालापः प्रलापो वचनं बहु ॥५१॥

विलापो दुःखवचनमनुलापो सकृद्वचः ।
संलाप उक्तप्रत्युक्तमपलापोऽन्यथा वचः ॥५२॥

अर्थ : पारस्परिक भाषण को आलाप कहा गया है। वचनाधिकता या अधिक बोलने को प्रलाप कहते हैं। दुख में कथित वचन विलाप होते हैं। अनुलाप किसी बात को बार-बार कहने को कहते हैं। संलाप आपस में उक्ति-

प्रत्युक्तिपूर्वक कथित वचनों को कहते है जबकि अपलाप में रहस्य को छिपा कर इधर-उधर या व्यर्थ की बातें की जाये।

वार्ताप्रयाणं संदेशो निर्देशः प्रतिपादनम्।
तत्त्वदेशोऽतिदेशोऽयमपदेशोऽन्यवर्णनम् ॥५३॥

अर्थ : परस्पर ज्ञात किसी बात को दूसरों तक पहुँचाने का नाम सन्देश है, जबकि किसी एक को क्रियात्मक रूप देने का नाम निर्देश है। अन्य वस्तु के वर्णन को तत्त्वदेश, अतिदेश और अपदेश कहते है।

उपदेशश्च शिक्षावाग्व्याजोक्तिर्व्यपदेशक·।
बोधाय एष व्यापार. सुबुद्ध्यारम्भ इष्यते ॥
तस्य भेदास्त्रयस्ते च रीतिवृत्तिप्रवृत्तयः ॥५४॥

अर्थ : किसी बात का वाणी द्वारा कथन उपदेश कहाता है जबकि व्याजोक्ति को व्यपदेश कहते हैं। इस वाग्विद्या के सम्यग्ज्ञान के लिये विद्वान् इसके रीति, वृत्ति, प्रवृत्ति ये तीन भेद करते हैं।

चतुर्थ अध्याय

रीतिनिरूपणम्

अग्निरुवाच :

वाग्विद्यासंप्रतिज्ञाने रीतिः साऽपि चतुर्विधा ।
पाञ्चाली गौडदेशीया वैदर्भी लाटजा तथा ॥१॥

अर्थ : अग्नि देवता ने कहा कि वाग्विद्या (Art of Speech) का पूर्ण ज्ञान कराने में रीति का स्थान निर्विवाद है। इसके पांचाली, गौड़ी, वैदर्भी और लाटी (लाटजा) चार भेद हैं।

उपचारयुता मृद्वी पाञ्चाली ह्रस्वविग्रहा ।
अनवस्थितसंदर्भा गौडीया दीर्घविग्रहा ॥२॥

अर्थ : पांचाल रीति में छोटे-छोटे विग्रह (समास) होने चाहिएँ और वह कोमल तथा अलंकृत भाषा से सयुक्त हो।

गौड़ी रीति में लम्बे-लम्बे समास हों और संदर्भ अनवस्थित (क्षीण-सम्बन्ध) हों।

उपचारैर्न वहुभिरुपचारैर्विवर्जिता ।
नातिकोमलसंदर्भा वैदर्भी मुक्तविग्रहा ॥३॥

अर्थ : वैदर्भी रीति मे न तो अधिक अलंकृत भाषा का प्रयोग हो और न अलंकृत प्रयोग से वह सर्वथा हीन ही हो। इसमें अति कोमल शब्दावली का प्रयोग न हो और यह समास से भी रहित होनी चाहिए।

लाटीया स्फुटसंदर्भा नातिविस्फुटविग्रहा ।
परित्यक्ताऽभिभूयोऽपि उपचारैरुदाहृता ॥४॥

अर्थ : लाटी रीति में वाक्य सीधे और सरल होने चाहिएँ जबकि समास अत्यन्त स्फुट न हो। भाषा का अनावश्यक अलंकरण इसमें नहीं होना चाहिए।

[परित्यक्तापि भूयोभिरुपचारैरुदाहृता (पाठ से)]

यह अधिक लाक्षणिक तत्वो से रहित हो ।

क्रियास्वविषमा वृत्तिर्भारत्यारभटी तथा ।
कौशिकी सात्वती चेति सा चतुर्धा प्रतिष्ठिता ॥५॥

अर्थ : क्रियाओं (नायकादि के कार्यो) में नियमपूर्वक व्यवहार को वृत्ति कहते हैं। इसके भारती, आरभटी, कौशिकी (केशिकी), सात्वती ये चार भेद हैं।

वाक्प्रधाना नरप्राया स्त्रीयुक्ता प्राकृतोक्तिता ।
भरतेन प्रणीतत्वाद् भारती रीतिरुच्यते ॥६॥

चत्वार्यङ्गानि भारत्या वीथी प्रहसनं तथा ।
प्रस्तावना नाटकादेर्वीथ्यङ्गाश्च त्रयोदश ॥७॥

उद्घातकं तथैव स्यात्लपितं स्याद् द्वितीयकम् ।
असत्प्रलापो वाक्श्रेणी नालिका विपणं तथा ॥८॥

व्यवहारस्त्रिमतं चैव च्छलावस्कन्दिते तथा ।
गण्डोऽथ मृदवश्चैव त्रयोदशमथोच्चितम् ॥९॥

अर्थ : भारती वृत्ति में शब्दों के महत्त्व पर अधिक ध्यान दिया जाता है और स्त्री पात्रों द्वारा प्राकृत का प्रयोग कराया जाता है। भरत मुनि द्वारा प्रवर्तित या प्रणीत होने के कारण ही इसका नाम भारती वृत्ति है। भारती वृत्ति के चार अंग हैं—वीथी, प्रहसन, नाटक की प्रस्तावना। वीथी के निम्नलिखित तेरह अंग हैं : उद्घातक, लपित, असत्प्रलाप, वाक्श्रेणी, नाटिका, विपण, व्यवहार, त्रिमत, छल, अवस्कन्दित, गंड, मृदु, अथोचित ।

तापसादेः प्रहसनं परिहासपरं वचः ।

अर्थ : प्रहसन नामक एकांकी में तपस्वी आदि के लिये हास्य परक वचन प्रयुक्त किये जाते हैं।

मायेन्द्रजालयुद्धादिबहुलाऽऽरभटी स्मृता ॥१०॥

संक्षिप्तकावपातौ च वस्तूत्थापनमेव च ॥११॥

अर्थ : आरभटी वृत्ति में मायावी और अद्‌भुत दृश्य रहते हैं और युद्ध आदि की बहुलता रहती है। संक्षिप्तक, अवपात और वस्तूत्थापन ये इसके तीन भेद माने गये हैं।

पंचम अध्याय

नृत्यादावङ्गकर्मनिरूपणम्

अग्निरुवाच :

चेष्टाविशेषमप्यङ्गप्रत्यङ्गे कर्म चानयोः।
शरीरारम्भमिच्छन्ति प्रायः पूर्वोऽबलाश्रयः ॥१॥

अर्थ : अग्निदेव ने कहा कि नाटक में नायक-नायिका की विशेष चेष्टायें और अंग-प्रत्यंग का कर्म ही शरीराम्भ (आङ्गिक अभिनय) कहाता है। इनमें चेष्टायें प्रायः नारी पात्रों में ही होती हैं।

लीला विलासो विच्छित्तिर्विभ्रमं किलकिंचितम्।
मोट्टायितं कुट्टमितं विव्वोको ललितं तथा ॥२॥

विकृतं क्रीडितं केलिरिति द्वादशधैव सः।

अर्थ : ये चेष्टायें बारह प्रकार की है, लीला, विलास, विच्छित्ति, विभ्रम, किलकिंचित, मोट्टायित, कुट्टमित, विव्वोक, ललित, विकृत, क्रीडित और केलि।

लीलेष्टजनचेष्टानुकरणं संवृतक्षये ॥३॥

विशेषान्दर्शयन्किचिद्विलासः सद्भिरिष्यते।
हसितक्रन्दितादीनां संकरः किलकिंचितम् ॥४॥

विकारः कोऽपि विव्वोको ललितं सौकुमार्यतः।

अर्थ : (वियोगावस्था) क्षीणस्मृति में प्रिय जन की चेष्टाओं के अनुकरण को लीला कहते हैं। भावों के विशेष प्रदर्शन को विद्वान् विलास कहते हैं। हास्य और क्रन्दन आदि का मिश्रित रूप किलकिंचित कहाता है। किसी के

प्रिय का विकृत रूप प्रस्तुत करने को विव्वोक और (गत्यादि की) सुकुमारता को ललित कहते हैं।

शिरः पाणिरुरः पार्श्वं कटिरङ्घ्रिरिति क्रमात् ॥५॥

अंगानि भ्रूलतादीनि प्रत्यंगान्यभिजायते।
अंगप्रत्यंगयोः कर्म प्रयत्नजनितं विना ॥६॥

न प्रयोगः क्वचिन्मुख्यं तिरश्चीनं च तत्क्वचित्।

अर्थ : शिर, हाथ, वक्ष, पार्श्व, कटि, पाद इन्हें अंग कहते हैं। भ्रू आदि को प्रत्यंग कहते हैं। अंग और प्रत्यंग के ये अप्रयत्नज अर्थात् स्वाभाविक रूप में ही होने चाहियें। नृत्य में कोई विशिष्ट नियम मुख्य नहीं होता। कहीं-कहीं पर नृत्य का तिरश्चीन प्रयोग भी किया जाता है।

आकम्पितं कम्पितं च धुतं विधुतमेव च ॥७॥

परिवाहितमाधूतमवधूतमथाचितम्।
निकुञ्चितं परावृत्तमुत्क्षिप्तं चाप्यधोगतम् ॥८॥

ललितं चेति विज्ञेयं त्रयोदशविधं शिरः।

अर्थ : नृत्य में सिर से सम्बन्धित अभिनय तेरह प्रकार का माना गया है :

आकम्पित, कम्पित, धुत, विधुत, परिवाहित, आधूत, अवधूत, अचित, निकुंचित, परावृत्त, उत्क्षिप्त, अधोगत तथा ललित।

भ्रूकर्म सप्तधा ज्ञेयं पातनं भृकुटीमुखम् ॥९॥

दृष्टिस्त्रिधा रसस्थायिसंचारिप्रतिबन्धना।
षट्त्रिंशद्भेदविधुरा रसजा तत्र चाष्टधा ॥१०॥

नवधा तारिकाकर्म भ्रमणं चलनादिकम्।
षोढा च नासिका ज्ञेया निःश्वासो नवधा मतः ॥११॥

अर्थ : भ्रूकर्म—भृकुटिपात सात प्रकार का होता है। रस, स्थायीभाव तथा संचारीभावों से सम्बद्ध दृष्टि तीन प्रकार की है। रस, स्थायी और संचारी के भेद से इस दृष्टि के छत्तीस भेद हैं। इसमें रसजा दृष्टि के भेद आठ हैं।

तारिका का कार्य (आँख चलाना) नौ प्रकार का है। नासिका की गति सोलह प्रकार की मानी गई है और निःश्वास की गति नौ प्रकार की।

षोढौष्ठकर्मकं प्राह्वं सप्तधा चिबुकक्रिया।
कलुषादिमुखं षोढा ग्रीवा नवविधा स्मृता ॥१२॥

अर्थ : नृत्य में ओष्ठ के कर्म सोलह प्रकार के कहे गये हैं, और चिबुक की क्रियाएँ सात प्रकार की मानी गई हैं। मुख का प्रदर्शन कलुष आदि के भेद से सोलह प्रकार का है और ग्रीवा की नौ गतियाँ मानी गई हैं।

असंयुतः संयुतश्च भूम्ना हस्तः प्रयुज्यते।
पताकस्त्रिपताकश्च तथा वै कर्तरीमुखः ॥१३॥

अर्धचन्द्रोत्करालश्च शुकतुण्डस्तथैव च।
मुष्टिश्च शिखरश्चैव कपित्थः कटकामुखः ॥१४॥

सूच्यास्यः पद्मकोषोऽहिशिराः समृगशीर्षकः।
काम्नूलकालपद्मौ च चतुरभ्रमरौ तथा ॥१५॥

हंसास्यहंसपक्षौ च संदंशमुकुलौ तथा।
ऊर्णनाभस्ताम्रचूडश्चतुर्विंशतिरित्यमी ॥१६॥

असंयुतकराः प्रोक्ताः

अर्थ : नृत्य में भूमि पर हाथों का प्रयोग दो प्रकार का है—संयुत और असंयुत। पताका, त्रिपताका, कर्तरीमुख, अर्धचन्द्र, उत्कराल, शुकतुण्ड, मुष्टि, शिखर, कपित्थ, कटकामुख, सूच्यास्य, पद्मकोष, अहिशिर, मृगशीर्षक, काम्नूल, काल पद्म, चतुर, भ्रमर, हंसास्य, हंसपक्ष, संदंश, मुकुल, ऊर्णनाभ, ताम्रचूड ये चौबीस असंयुत कर कहे गये हैं। अर्थात् नृत्य में इन चौबीस प्रकारों से असंयुतकरों का प्रयोग किया जाता है।

संयुतास्तु त्रयोदश ।
अञ्जलिश्च कपोतश्च कर्कटः स्वस्तिकस्तथा ॥१७॥

कटको वर्धमानश्चाप्यसङ्गो निषधस्तथा ।
दोलः पुष्पपुटश्चैव तथा मकर एव च ॥१८॥

गजदन्तो वहिःस्तम्भो वर्धमानोऽपरे करा ।

अर्थ : संयुक्त करों का प्रयोग तेरह प्रकार से किया जाता है : अंजलि, कपोत, कर्कट, स्वस्तिक, कटक, वर्धमान, अप्यसंग, निषध, दोलः, कमठ, वहिस्तम्भ इत्यादि-इत्यादि ।

उरः पञ्चविधं स्यात्तु आभुग्ननर्तकादिकम् ॥१९॥

उदरं त्वनतिक्षामं खण्डं पूर्णमिति त्रिधा ।

अर्थ : नृत्य आदि में वक्ष संचालन पाँच प्रकार से किया जाता है । जैसे आभुग्न नर्तकादि । उदर प्रदर्शन तीन प्रकार से किया जाता है—अनतिक्षाम, खण्ड और पूर्ण ।

पार्श्वयोः पञ्च कर्माणि जङ्घाकर्म च पञ्चधा ॥२०॥

अनेकधा पादकर्म नृत्यादि नाटके स्मृतम् ॥२१॥

अर्थ : पार्श्व भाग के पाँच कर्म हैं । जंघाओं के कर्म भी पाँच प्रकार के होते हैं । नाटक में नृत्यादि में पाद कर्म भी अनेक प्रकार का कहा गया है ।

षष्ठ अध्याय

अभिनयादिनिरूपणम्

अग्निरुवाच :

> आभिमुख्यं नयन्नर्थान्विज्ञेयोऽभिनयो बुधैः ।
> चतुर्धा सत्ववागङ्गाहरणाश्रयः ॥१॥
>
> स्तम्भादिः सात्विको वागारम्भो वाचिक आङ्गिकः ।
> शरीरारम्भ आहार्यो बुद्धचारम्भप्रवृत्तयः ॥२॥

अर्थ : अग्नि देवता ने कहा कि—

नाटक की वर्ण्य वस्तु को दर्शको के समक्ष लाने वाला अभिनय ही होता है। वह अभिनय चार प्रकार का होता है :

सत्वाश्रय, वागाश्रय, अंगाश्रय, आहरणाश्रय। स्तम्भादि सात्विक भावों का प्रदर्शन सात्विक अभिनय कहाता है। वाणी से सम्बद्ध अभिनय वाचिक अभिनय कहाता है, शरीर से संबद्ध आगिक अभिनय तथा बुद्धि से सम्बद्ध आहार्य अभिनय।

> रसादिविनियोगोऽथ कथ्यते ह्यतिमानतः ।
> तमन्तरेण सर्वेषामपार्थैव स्वतन्त्रता ॥३॥
>
> संभोगो विप्रलम्भश्च शृङ्गारो द्विविधः स्मृतः ।
> प्रच्छन्नश्च प्रकाशश्च तावपि द्विविधौ पुनः ॥४॥
>
> विप्रलम्भाभिधानो य· शृङ्गारः स चतुर्विधः ।
> पूर्वानुरागमानाख्यः प्रवासकरुणात्मकः ॥५॥
>
> तेभ्योऽन्यतरं जायमानं संभोगलक्षणम् ।
> विवर्तते चतुर्धैव न च प्रागतिवर्तते ॥६॥

स्त्रीपुंसयोस्तद्द्वयं तस्य निर्वर्तिका रतिः ।
निखिलाः सात्विकास्तत्र वैवर्ण्यप्रलयौ विना ।।७।।

धर्मार्थकाममोक्षैश्च शृङ्गार उपचीयते ।
आलम्वनविशेषैश्च तद्विशेषैर्निरन्तरः ।।८।।

शृङ्गारं द्विविधं विद्याद्वाङ्नेपथ्यक्रियात्मकम् ।

अर्थ : अब विस्तारपूर्वक रस आदि का प्रकरण निर्दिष्ट किया जाता है। इसके विना सव (कवियों एवं सहृदयो) की सार्थकता ही व्यर्थ है।

सभोग और विप्रलम्भ ये शृङ्गार के दो भेद हैं। इनके पुनः दो भेद होते हैं—प्रच्छन्न और शृङ्गार। विप्रलम्भ शृङ्गार के चार भेद हैं : पूर्व राग, मान, प्रवास, करुण। इन चारों से भिन्न रूप से उत्पन्न होने वाला संभोग शृंगार है। यह इन चारों मे विद्यमान रहता है परन्तु इनका अतिक्रमण नही करता। इसका सम्वन्ध स्त्री-पुरुप से है। इसका निर्वाह रति स्थायी भाव के द्वारा होता है। इस रस मे समस्त सात्विकों का समावेश रहता है और वैवर्ण्य और प्रलय का अभाव रहता है। धर्मार्थ काम मोक्ष तथा आलम्वनादि के द्वारा शृंगार निरन्तर वढ़ता रहता है। शृंगार के मुख्य रूप से दो भेद होते हैं—साहित्यिक रूप (काव्यादि में), अभिनेय रूप (नाटकादि मे)।

हासश्चतुर्विधो लक्ष्यदन्तः स्मित इतीरितः ।।९।।

किंचिल्लक्षितदन्ताग्रं हसितं फुल्ललोचनम् ।
विहसितं सस्वनं स्याज्जिह्मोपहसितं तु तत् ।।१०।।

सशब्दं पापहसितमशब्दमतिहासितम् ।

अर्थ : हास चार प्रकार का होता है। अलक्ष्यदन्त अर्थात् जिसमें दाँत दिखाई न दें, ऐसा हास्य 'स्मित' कहाता है। जिस हास्य में दाँतों का अग्रभाग थोड़ा-थोड़ा दिखाई दे और नेत्रों में भी उल्लास हो उसे 'हसित' कहते हैं। जिस हास्य में मधुर-मधुर शब्द भी हो उसे विहसित और जहाँ मुख भी खुल जाय

और शब्द भी हो उसे अपहसित कहते हैं। इस अपहसित हास्य में पाप हँसी रहती है अर्थात् इसमें हास्य का विकृत रूप रहता है।

यश्चासौ करुणो नाम स रसस्त्रिविधो भवेत् ॥११॥

धर्मोपघातजश्चित्तविलासजनितस्तथा ।
शोकः शोकाद्भवेत्स्थायी कः स्थायी पूर्वजो मतः ॥१२॥

अर्थ: करुण रस के तीन भेद हैं: धर्महानि द्वारा उद्भूत शोक, चित्तग्लानि जन्य शोक तथा वियोग से उत्पन्न शोक।

इनका स्थायी भाव पूर्वज अर्थात् प्रथम का धर्म, द्वितीय का विलास तथा तृतीय का शोक है।

अंगनेपथ्यवाक्यैश्च रौद्रोऽपि त्रिविधो रसः।
तस्य निर्वर्तकः क्रोधः स्वेदो रोमाञ्चवेपथुः ॥१३॥

अर्थ: रौद्र रस के तीन भेद हैं—अङ्ग रौद्र, नेपथ्य रौद्र तथा वाक्य रौद्र। इसका निर्वर्तक स्थायी भाव क्रोध है, तथा स्वेद, रोमांच, कम्प इसके संचारी भाव हैं।

दानवीरो धर्मवीरो युद्धवीर इति त्रयम्।
वीरस्तस्य च निष्पत्तिहेतुरुत्साह इष्यते ॥१४॥

आरम्भेषु भवेद्यत्र वीरमेवानुवर्तते।
भयानको नाम रसस्तस्य निर्वर्तकं भयम् ॥१५॥

अर्थ: वीर रस के तीन भेद हैं—दानवीर, धर्मवीर तथा युद्धवीर। इस रस की अभिव्यक्ति उत्साह द्वारा होती है। भयानक रस का स्थायीभाव भय है, यह रस वीर रस की पूर्वावस्था है। अर्थात् भय के उपरान्त ही वीर रस की स्थिति सम्भव होती है।

उद्वेजनः क्षोभन (ण) श्च बीभत्सो द्विविधः स्मृतः।
उद्वेजनः स्यात्प्लुत्याद्यैः क्षोभनो (णो) रुधिरादिभिः ॥१६॥

जुगुप्साऽऽरम्भिका तस्य सात्त्विकांशो निवर्तते ।

अर्थ : वीभत्स रस के दो भेद हैं—उद्वेजन और क्षोभन । उद्वेजन का प्रदर्शन उछल-कूद द्वारा तथा क्षोभन का प्रदर्शन रुधिरपातादि द्वारा किया जाता है । इसका स्थायी भाव 'जुगुप्सा' है तथा इसमें सात्विक अंश नही रहने पाता ।

काव्यशोभाकरान्धर्मानलंकारान्प्रचक्षते ॥१७॥

अलंका (क) रिष्णवस्ते च शब्दमर्थमुभौ त्रिधा ।
ये व्युत्पत्त्यादिना शब्दमलंकर्तुमिह क्षमाः ॥१८॥

शब्दालंकारमाहुस्तान्काव्यमीमांसका विदः ।
छाया मुद्रा तथोक्तिश्च युक्तिगुम्फनया सह ॥१९॥]

वाकोवाक्यमनुप्रासश्चित्रं दुष्करमेव च ।
ज्ञेया दशलंकृतयः शब्दानामित्यसंकरात् ॥२०॥

अर्थ : काव्य की शोभा वढाने वाले साधनों को अलंकार कहा जाता है। ये अलंकार तीन प्रकार के होते हैं—शब्दालंकार, अर्थालंकार, शब्दार्थालंकार। जो अलंकार व्युत्पत्ति अर्थात् शब्दों की विशिष्ट संयोजन-शैली द्वारा शब्द को अलंकृत करते हैं उन्हे काव्य शास्त्र के ज्ञाता शब्दालंकार कहते हैं । ये अलंकार संख्या मे नौ हैं—छाया, मुद्रा, उक्ति, युक्ति, गुम्फन, वाकोवाक्य, अनुप्रास, चित्र, दुष्कर ।

तत्रान्योक्तेरनुकृतिश्छाया साऽपि चतुर्विधा ।
लोकच्छेकार्भकोक्तीनां मत्तोक्तेरनुकारतः ॥२१॥

अर्थ : अन्य के कथन की अनुकृति (तद्वत् अनुकरण) छाया कहाती है । इसके चार भेद हैं—लोकोक्ति, छेकोक्ति, अर्भकोक्ति तथा मत्तोक्ति ।

आभाणको हि लोकोक्तिः सर्वसामान्य एव ताः ।
यानुधावति लोकोक्तिश्छायामिच्छन्ति तां बुधाः ॥२२॥

अर्थ : लोक प्रसिद्ध कथन को लोकोक्ति कहते हैं। यह सर्वमान्य होती है। जब यह लोकोक्ति प्रचलित होती है तो इसे विद्वान् छाया नाम देते हैं।

छेका विदग्धा वैदग्ध्यं कलासु कुशला मतिः।
तामुल्लिखन्ती छेकोक्तिश्छाया कविभिरिष्यते ॥२३॥

अर्थ : छेक विदग्ध को कहते है। कलाओं में प्रदर्शित बुद्धि कौशल वैदग्ध्य कहाता है। इस विदग्धता का उल्लेख करने वाली उक्ति को कवियों ने छेकोक्ति छाया कहा है।

अव्युत्पन्नोक्तिरखिलैरर्भकोक्त्योपलक्ष्यते ।
तेनार्भकोक्तिश्छाया तन्मात्रोक्तिमनुकुर्वती ॥२४॥

अर्थ : अव्युत्पन्न अर्थात् अपरिपक्व मस्तिष्क व्यक्ति की उक्ति अर्भकोक्ति कहाती है, इस अर्भकोक्ति मात्र की अनुकर्त्री उक्ति को अर्भकोक्ति छाया कहा जाता है।

विप्लुताक्षरमश्लीलवचो मत्तस्य तादृशी।
या सा भवति मत्तोक्तिश्छायोक्ताऽप्यतिशोभते ॥२५॥

अर्थ : शब्दाडम्बर तथा अश्लील वचनों से संवलित तथा प्रमत्त व्यक्ति के समान कही गई उक्ति मत्तोक्ति छाया कहाती है, कहे जाने पर यह उक्ति अति सुन्दर लगती है।

अभिप्रायविशेषेण कविशक्तिं विवृण्वती।
मुत्प्रदायिनीति सा मुद्रा सैव शय्याऽपि नो मते ॥२६॥

अर्थ : किसी विशेष अभिप्राय से कवि के बुद्धि वैभव को प्रदर्शित करने वाली उक्ति, जो कि पाठको का मनोरंजन करती है मुद्रा कहाती है। हमारे मत से उसे शय्या भी कहना चाहिए।

उक्तिः सा कथ्यते यस्यामर्थः कोऽप्युपपत्तिमान्।
लोकयात्रार्थविधिना धिनोति हृदयं सताम् ॥२७॥

उभौ विधिनिषेधौ च नियमानियमावपि ।
विकल्पपरिसंख्ये च तदीयाः षड्विधोक्तयः ॥२८॥

अर्थ : जहाँ पर किसी विशिष्ट बात को लोक व्यवहारानुकूल बना कर कहा जाता है जिससे वह सहृदयों के हृदय को स्पर्श कर सकती है ऐसे कथन को 'उक्ति' कहा गया है। इसके छः भद होते हैं—विधि, निषेध, नियम, अनियम, विकल्प तथा परिसंख्या।

अयुक्तयोरिव मिथो वाच्यवाचकयोर्द्वयोः ।
योजनायै कल्पमाना युक्तिरुक्ता मनीषिभिः ॥२९॥

पदं चैव पदार्थश्च वाक्यं वाक्यार्थमेव च ।
विषयोऽस्याः प्रकरणं प्रपञ्चश्चेति षड्विधः ॥३०॥

अर्थ : किन्हीं दो अयुक्त, वाच्य और वाचक को परस्पर मिलाने वाली कल्पना को मनीपियों ने युक्ति कहा है। पद, पदार्थ, वाक्य, वाक्यार्थ, विपय, प्रपंच, इसके प्रकरणानुसार ये छः भेद होते है।

गुम्फना रचना चार्या शब्दार्थक्रमगोचरा ।
शब्दानुकारादर्थानुपूर्वार्थेयं क्रमात् त्रिधा ॥३१॥

अर्थ : शब्दार्थ क्रम को दृष्टि में रख कर जो संयोजन किया जाता है उसे 'गुम्फना' कहते हैं। इस गुम्फना के तीन भेद हैं—शब्द साम्य को लेकर, अर्थ साम्य को लेकर, तथा शब्दों के स्वाभाविक क्रम को समक्ष रख कर।

उक्तिप्रत्युक्तिमद्वाक्यं वाकोवाक्यं द्विधैव तत् ।
ऋजुवक्रोक्तिभेदेन तत्राद्यं सहजं वचः ॥३२॥

सा पूर्वप्रश्नका प्रश्नपूर्विकेति द्विधा भवेत् ।
वक्रोक्तिस्तु भवेद्भङ्ग्या काकुस्तेन कृता द्विधा ॥३३॥

अर्थ : उक्ति-प्रत्युक्ति वाला वाक्य ही वाकोवाक्य कहाता है। इसके दो भेद होते हैं—ऋजु और वक्रोक्ति। स्वाभाविक वचन को ऋजु वाको-

वाक्य कहते हैं। इसके भी दो प्रकार हैं—अप्रश्न ऋजु और प्रश्न-पूर्वक ऋजु।

वक्रोक्ति के भी दो भेद होते हैं—प्रथम भङ्गिमा के द्वारा तथा द्वितीय काकु के द्वारा।

सप्तम अध्याय

शब्दालंकाराः

अग्निरुवाच :

स्यादावृत्तिरनुप्रासो वर्णानां पदवाक्ययोः ।
एकवर्णोऽनेकवर्णो वृत्तेर्वर्णगणो द्विधा ॥१॥

एकवर्णगतावृत्तेर्जायन्ते पञ्च वृत्तयः ।
मधुरा ललिता प्रौढ़ा भद्रा परुषया सह ॥२॥

(शब्दालंकार)

अर्थ : अग्नि देव ने कहा कि पद और वाक्य में वर्णों की आवृत्ति का नाम अनुप्रास है। इसके दो भेद हैं—एकवर्णगतावृत्ति तथा अनेकवर्णगतावृत्ति। एकवर्णगतावृत्ति की पाँच वृत्तियाँ हैं—मधुरा, ललिता, प्रौढ़ा, भद्रा और परुषा।

मधुरायाश्च वर्गान्तादधो वर्ग्यारुणौ स्वनौ ।
ह्रस्वस्वरेणान्तरितौ संयुक्तत्वं नकारयोः ॥३॥

न कार्या वर्ग्यवर्णानामावृत्तिः पञ्चमाधिका ।
महाप्राणोष्मसंयोगप्रविमुक्तलघूत्तरौ ॥४॥

अर्थ : मधुरावृत्ति में वर्गों के अन्तिम वर्णों से पूर्ववर्ती दो कोमल स्वनों (वर्णों) अर्थात् वर्गों के तीसरे और चौथे वर्णों की आवृत्ति होती है। ये वर्ण ह्रस्व 'अ' से पृथग्भूत हों अर्थात् असयुक्त होने चाहिएँ, और यदि संयुक्त भी हों तो केवल नकार के ही साथ हों। यहाँ वर्ग्य वर्णों की आवृत्ति पाँच वार से अधिक नहीं होनी चाहिए। इसमें महाप्राण ऊष्मवर्णों का संयोग न हो और लघु अक्षर उत्तर मे हों।

ललिता वलभूयिष्ठा प्रौढा या पणवर्गजा ।
ऊर्ध्वं रेफेण युज्यन्ते नटवर्गो न पञ्चमाः ॥५॥

भद्रायां परिशिष्टाः स्युः

अर्थ : ललिता वृत्ति में अधिक बल वाले कठोर शब्दों का प्रयोग होता है।

प्रौढ़ा में 'प' तथा 'ण' वर्ग के शब्दों का प्रयोग होता है यहां 'ट' वर्ग और वर्गों के पंचमाक्षर ऊर्ध्व रेफ से संयुक्त नहीं होते।

उपर्युक्त वर्णो से अवशिष्ट वर्ण भद्रावृत्ति में प्रयुक्त होते हैं।

परुषा साभिधीयते।
भवन्ति यस्यामूष्माणः संयुक्तास्तत्तदक्षरैः ॥६॥

अकारवर्जमावृत्तिः स्वराणामतिभूयसी।
अनुस्वारविसर्गौ च पारुष्याय निरन्तरौ ॥७॥

शषसा रेफसंयुक्ताश्चाकारश्चापि भूयसा।
अन्तस्था भिन्नमाभ्यां च हः पारुष्याय संयुतः ॥८॥

अन्यथाऽपि गुरुर्वर्णः संयुक्ते परिपन्थिनि।
पारुष्यायाऽऽदिमांस्तत्र पूजिता न तु पञ्चमी ॥९॥

क्षेपे शब्दानुकारे च परुषाऽपि प्रयुज्यते।
कर्णाटी कौन्तली कौन्ती कौङ्कणी वामनासिका ॥१०॥

द्रावणी माधवी पञ्चवर्गान्तस्थोष्मभिः क्रमात्।

अर्थ : परुषा वृत्ति उसे कहते है जिसमें स्वसम्बन्धी अक्षरों के साथ ऊष्म वर्णो का संयोग रहता है। इसमें अकार को छोड़कर शेष स्वरों की आवृत्ति प्रचुरमात्रा में होती है, अनुस्वार तथा विसर्ग के द्वारा निरन्तर पारुष्य लाया जाता है। इसमे रेफ तथा अकार से संयुक्त श, ष, स, का प्रयोग होता है। अन्तस्थवर्णो से संयुक्त रकार और हकार परुषता लाने में समर्थ होता है। इनके अतिरिक्त गुरुवर्ण तथा संयुक्त अक्षर परिपन्थि अर्थात् परुषता के

उपयुक्त हैं। वर्गों के आदिम वर्ण तो परुपता लाने में समर्थ हैं पर पंचम वर्ण नहीं। निन्दा में तथा शब्दानुवृत्ति में परुपा वृत्ति का प्रयोग होता है।

कर्णाटी, कौन्तली, कौन्ती, कौङ्कणी, वामनासिका, द्रावणी और माधवी नामक (परुषा) वृत्तियों में क्रमशः कवर्ग आदि पंच वर्गों, अन्तस्थवर्गों तथा ऊष्म वर्णों की आवृत्ति (अधिकतया) होती है।

अनेकवर्णा वृत्तिर्या भिन्नार्थप्रतिपादिका ॥११॥

यमकं साऽव्यपेतं च व्यपेतं चेति तद्द्विवा।
आनन्तर्यादव्यपेतं व्यपेतं व्यवधानतः ॥१२॥

द्वैविध्येनानयोः स्थानपादभेदाच्चतुर्विधम्।
आदिपादादिमध्यान्तेष्वेकद्वित्रिनियोगतः ॥१३॥

सप्तधा सप्तपूर्वेण चेत्पादेनोत्तरोत्तरः।
एकद्वित्रिपदारम्भस्तुल्यः षोढा तदा परम् ॥१४॥

अर्थ : अनेकवर्णवृत्ति में आवृत्तवर्णों के अर्थ भिन्न-भिन्न होते हैं और ऐसी आवृत्ति यमक कहाती है। इसके दो भेद है—अव्यपेत और व्यपेत। अव्यपेत यमक वह कहाता है जहाँ वर्णों की आवृत्ति लगातार होती है। व्यपेत यमक में आवृत्ति व्यवधान के साथ होती है। इन दो भेदों के पुनः स्थान और पाद के क्रम से चार भेद होते हैं। स्थान यमक के तीन भेद हैं : आदि, पादमध्य तथा पादान्त। ये यमक के सात भेद हुए। इसी प्रकार पाद यमक के भी एकपाद, द्विपाद तथा त्रिपाद के क्रम से उत्तरोत्तर सोलह प्रकार वन जाते हैं।

यमक का वंश वृक्ष

यमक

१. अव्यपेत		२. व्यपेत	
३. स्थान	पाद	४. स्थान	पाद
५. आदि स्थान	८. एक पाद	११. आदि स्थान	१४. एक पाद
६. मध्य स्थान	९. द्वि पाद	१२. मध्य स्थान	१५. द्विपाद
७. अन्तस्थान	१०. त्रिपाद	१३. अन्त स्थान	१६. त्रिपाद

तृतीयं त्रिविवं पादस्याऽऽदिमध्यान्तगोचरम् ।
पादान्तयमकं चैव काञ्चीयमकमेव च ॥१५॥

संसर्गयमकं चैव विक्रान्तयमकं तथा ।
पादादियमकं चैव तथाऽऽम्रेडितमेव च ॥१६॥

चतुर्व्यवसितं चैव मालायमकमेव च ।
दशधा यमकं श्रेष्ठम्

अर्थ : तीन प्रकार का तीसरा यमक पादादि, पादमध्य, पादान्त, कांची यमक, संसर्ग यमक, विक्रान्त यमक, पादादि यमक, आम्रेडित, चतुर्व्यवसित, तथा माला यमक, यह दस प्रकार का यमक श्रेष्ठ माना गया है ।

तद्भेदा बहवोऽपरे ॥१७॥

स्वतन्त्रस्यान्यतन्त्रस्य पदस्यावर्तनाद् द्विधा ।
भिन्नप्रयोजनपदस्याऽऽवृत्ति मनुजा विदुः ॥१८॥

द्वयोरावृत्तपदयोःऽसमस्ता स्यात्समासतः ।
असमासात्तयोर्व्यस्ता पादे त्वेदत्र विग्रहात् ॥१९॥

अर्थ : इस यमक के अन्य भी बहुत से भेद हैं। भिन्न प्रयोजन से आवृत्त पद के दो भेद जानने चाहिए—स्वतन्त्र पदावृत्ति, अस्वतन्त्र पदावृत्ति । इसके भी पुनः दो भेद हैं—समस्त पदावृत्ति तथा असमस्त पदावृत्ति ।

वाक्यस्यावृत्तिरप्येवं यथासंभवमिष्यते ।
अलंकाराद्यनुप्रासो लघुमप्येवमर्हणात् ॥२०॥

यया कयाचिद् वृत्त्या यत्समानमनुभूयते ।
तद्रूपादिपदासत्तिः सानुप्रासा रसावहा ॥२१॥

अर्थ : यमक में यथासंभव वाक्य की आवृत्ति भी होती है। जिस

किसी भी वृत्ति से जो समानता अनुभव की जाती है यह रूप विन्यास की हो या पदविन्यास की वह रसावह वृत्ति अनुप्रास के अन्तर्गत आती है।

गोष्ठ्यां कुतूहलाधायी वाग्बन्धश्चित्रमुच्यते ।
प्रश्नः प्रहेलिका गुप्तं च्युतं दत्तं तथोभयम् ॥२२॥

समस्या सप्त तद्भेदा नानार्थस्यानुयोगतः ।

अर्थ : गोष्ठी में पढ़ने मात्र से कुतूहल उत्पन्न करने वाला कवि का वाग्बन्ध (शब्द गुम्फन) चित्र कहाता है। नाना अर्थों के अनुयोग से इसके सात भेद होते हैं—प्रश्न, प्रहेलिका, गुप्तपद, च्युतपद, दत्तपद, च्युतदत्तपद, और समस्या।

यत्र प्रदीयते तुल्यवर्णविन्यासमुत्तरम् ॥२३॥

स प्रश्नः स्यादेकपृष्टद्विपृष्टोत्तरभेदतः ।
द्विधैकपृष्टो द्विविधः समस्तो व्यस्त एव च ॥२४॥

अर्थ : जहाँ समान वर्णों के विन्यास द्वारा उत्तर दिया जाता है, उसे 'प्रश्न' कहते हैं। इसके दो भेद है—एकपृष्ट प्रश्नोत्तर तथा द्विपृष्ट प्रश्नोत्तर। एकपृष्ट प्रश्नोत्तर के भी दो भेद हैं—समस्त और व्यस्त।

द्वयोरप्यर्थयोर्गुह्यमानशब्दा प्रहेलिका ।
सा द्विधाऽऽर्थी च शाब्दी च तत्राऽऽर्थी चार्थबोधतः ॥२५॥

शब्दावबोधतः शाब्दी प्राहुः षोढा प्रहेलिकाम् ।

अर्थ : जहाँ द्वयर्थक गुह्य शब्दों का प्रयोग हो उसे प्रहेलिका कहते हैं, इसके दो भेद हैं—शाब्दी और आर्थी। अर्थ द्वारा जिसका ज्ञान हो उसे आर्थी और शब्द द्वारा जिसका ज्ञान हो वह शाब्दी कहाती है। उसके छः प्रकार होते हैं।

यस्मिन्गुप्तेऽपि वाक्याङ्गे भाव्यर्थो
प (पा) रमार्थिकः (परिसाधकः) ।।२६।।

तदङ्गे विहिताकाङ्क्षस्तद्गुप्तं गूढमप्यदः ।

अर्थ : जिस किसी वाक्य में वाक्याङ्ग गुप्त होते हुए भी भावी अर्थ (संभावित अर्थ) को सिद्ध करने वाला हो, उस अङ्ग की आकांक्षा से जब इसका समावेश, गूढ़ होते हुए भी किया जाता है उसे गुप्त कहते हैं ।

यत्रार्थान्तरनिर्भासो वाक्याङ्गच्यवनादिभिः ।।२७।।

तदङ्गाविहिताकाङ्क्षस्तच्चु (च्च्यु) तं स्याच्चतुर्विधम् ।
स्वरव्यञ्जनबिन्दूनां विसर्गस्य च विच्युतेः ।।२८।।

अर्थ : जहाँ किसी वाक्याङ्ग के स्खलन से अन्य अर्थ की प्रतीति हो, उस स्खलित अंग की आकांक्षा से सम्बन्ध निर्वाह हो जाये उसे 'च्युत' कहते हैं। यह चार प्रकार का है—स्वर च्युत, व्यञ्जन च्युत, अनुस्वार च्युत तथा विसर्ग च्युत ।

दत्तेऽपि यत्र वाक्याङ्गे द्वितीयोर्थः प्रतीयते ।
दत्तं तदाहुस्तद्भेदाः स्वराद्यैः पूर्ववन्मताः ।।२९।।

अर्थ : जहाँ किसी वाक्याङ्ग में किसी वाक्यांश के देने मात्र से द्वितीय अर्थ की प्रतीति होती है उसे 'दत्त' कहते हैं। इसके भी पूर्ववत् स्वर, व्यंजन, अनुस्वार और विसर्ग गत चार भेद माने गये हैं ।

अपनीताक्षरस्थाने न्यस्ते वर्णान्तरेऽपि च ।
भासतेऽर्थान्तरं यत्र च्युतदत्तं तदुच्यते ।।३०।।

अर्थ : जहाँ हटाये हुए अक्षर के स्थान पर किसी अन्य वर्ण के रखने से अर्थान्तर की प्रतीति होती है उसे च्युतदत्त कहते हैं ।

सुश्लिष्टपद्यमेकं यन्नानाश्लोकांशनिर्मितम् ।
सा समस्या परस्याऽऽत्मपरयोः कृतिसंकरात् ।।३१।।

अर्थ : विभिन्न श्लोकांशों से सुनियोजित पद्य समस्या कहाता है। इसके दो भेद हैं—आत्म-संकर अर्थात् पद्य के अंशों का सकर, तथा पर-संकर अर्थात् अन्य पदों का मिश्रण या संकर।

दुःखेन कृतमत्यर्थं कविसामर्थ्यसूचकम्।
दुष्करं नीरसत्वेऽपि विदग्धानां महोत्सवः ॥३२॥

नियमाच्च विदर्भाच्च वन्धाच्च भवति त्रिधा।

अर्थ : 'दुष्कर' अलंकार में अर्थज्ञान क्लिष्टतासाध्य होता है और इससे कवि की शव्दादिगुम्फन में सामर्थ्य का ही परिचय मिलता है। यद्यपि यह अलंकार नीरस होता है तो भी विदग्धों (पंडितो) को रुचिकर लगता है। इसके तीन भेद हैं : नियम, विदर्भ और वन्ध।

कवेः प्रतिज्ञा निर्माणरम्यस्य नियमः स्मृतः ॥३३॥
स्थानेनापि स्वरेणापि व्यञ्जनेनापि स त्रिधा।

अर्थ : कवि-प्रतिज्ञानुसार शव्दों द्वारा रमणीयता की कल्पना नियम कहाती है। यह रमणीयता तीन प्रकार से होती है—(१) यथास्थान शव्द-विन्यास द्वारा (२) स्वर द्वारा (३) व्यंजन द्वारा।

विदर्भः प्रातिलोम्यानुलोम्यादेवाभिधीयते ॥३४॥
प्रातिलोम्यानुलोम्यं च शव्देनार्थेन जायते।

अर्थ : प्रातिलोम्य अर्थात प्रतिकूल शव्दो अथवा अर्थो की रचना आनुलोम्य अर्थात् अनुकूल शव्दों अथवा अर्थो की रचना विदर्भ कहाती है। यह प्रतिकूलता अथवा अनुकूलता शव्द और अर्थ दोनों के द्वारा होती है।

अनेकधावृत्तवर्णविन्यासैः शिल्पकल्पना ॥३५॥
तत्तत्प्रसिद्धवस्तूनां वन्ध इत्यभिधीयते।

गोमूत्रिकार्धभ्रमणं सर्वतोभद्रमम्बुजम् ॥३६॥
चक्रं चक्राब्जं दण्डो मुरजाश्चेति चाष्टधा।

अर्थ : अनेक प्रकार से आवृत्त होने वाले वर्णों के विन्यास से प्रसिद्ध वस्तुओं (कमल, मुरज, खड्ग आदि) की शिल्प-कल्पना अर्थात् शब्द चित्र को 'बन्ध' कहा गया है। यह बन्ध आठ प्रकार का होता है गोमूत्रिका, अर्द्ध भ्रमण, सर्वतोभद्र, अंबुज, चक्र, चक्राब्ज, दण्ड और मुरज।

अष्टम अध्याय

अर्थालंकाराः

अग्निरुवाच :

अलंकरणमर्थानामर्थालंकार इष्यते ।
तं विना शब्दसौन्दर्यमपि नास्ति मनोहरम् ॥१॥

अर्थालंकाररहिता विधवेव सरस्वती ।
स्वरूपमथ सादृश्यमुत्प्रेक्षातिशयावपि ॥२॥

विभावना विरोधश्च हेतुश्च सममष्टधा ।

अर्थालंकार

अर्थ : अग्नि देवता ने कहा कि अर्थों के चमत्कार को 'अर्थालंकार' कहते हैं। इसके बिना काव्य, शब्द-सौंदर्य समन्वित होते हुए भी हृदय-स्पर्शी नही होता। अर्थालंकार विहीन काव्यकृति विधवा के समान होती है। ये अलंकार आठ हैं—स्वरूप, सादृश्य, उत्प्रेक्षा, अतिशय, विभावना, विरोध, हेतु और सम।

स्वभाव एव भावानां स्वरूपमभिधीयते ॥३॥
निजमागन्तुकं चेति द्विविधं तदुदाहृतम् ।

सांसिद्धिकं निजं नैमित्तिकमागन्तुकं तथा ॥४॥

अर्थ : वस्तुओं के स्वभाव का तद्वत् उल्लेख ही 'स्वरूप' कहाता है। इसके दो भेद हैं—निज और आगन्तुक। स्वाभाविक वर्णन 'निज' कहाता है तथा कारणवश वर्णन आगन्तुक।

सादृश्यं धर्मसामान्यमुपमा रूपकं तथा ।
सहोक्त्यर्थान्तरन्यासाविति स्यात्तु चतुर्विधम् ॥५॥

अर्थ : जहाँ साधारण धर्म की समानता दिखाई जाए वहाँ सादृश्य अलंकार होता है। इसके चार प्रकार हैं—उपमा, रूपक, सहोक्ति और अर्थान्तरन्यास।

उपमा नाम सा यस्यामुपमानोपमेययोः।
सत्ता चान्तरसामान्ययोगित्वेऽपि विवक्षितम् ॥६॥

किंचिदादाय सारूप्यं लोकयात्रा प्रवर्तते।

अर्थ : उपमा नामक अलंकार वहाँ होता है जहाँ उपमान और उपमेय की समानता में अन्तर होते हुए भी उनकी सदृशता का उल्लेख होता है। इन दोनों में किंचित् सादृश्य दिखाने पर ही लोक व्यवहार का प्रवर्तन किया जाता है

समासेनासमासेन सा द्विधा प्रतियोगिनः ॥७॥

विग्रहादभिधानस्य ससमासाऽन्यथोत्तरा।
उपमा द्योतकपदेनोपमेयपदेन च ॥८॥

ताभ्यां च विग्रहात् त्रेधा ससमासाऽन्तिमा त्रिधा।
विशिष्यमाणा उपमा भवन्त्यष्टावश स्फुटाः ॥९॥

अर्थ : (उपमा भेद)

उपमा के दो भेद हैं, समासोपमा और असमासोपमा। समासोपमा में पद संश्लिष्ट होते हैं, जब कि असमासोपमा में उपमा वाचक पद का अथवा उपमेय पद का उल्लेख होता है। इनमें पुनः तीन-तीन भेद होते हैं। इस प्रकार उपमा के कुल अठारह भेद हो जाते हैं।

यत्र साधारणो धर्मः कथ्यते गम्यतेऽपि वा।
ते धर्मवस्तुप्राधान्याद्धर्मवस्तूपमे उभे ॥१०॥

अर्थ : जहाँ साधारण धर्म का कथन होता है अथवा (कथन के अभाव में) उसकी प्रतीति होती है, वहाँ क्रमशः धर्म की प्रधानता के कारण

'धर्मोपमा' अलंकार होता है और वस्तु (विषय) की प्रधानता के कारण 'वस्तूपमा' अलंकार होता है।

तुल्यमेवोपमीयेते यत्रान्योन्येन धर्मिणौ।
परस्परोपमा सा स्यात्

अर्थ : जहाँ पर उपमेय और उपमान के साधारण धर्मों की परस्पर तुलना प्रचलित रीति से की जाती है वहाँ 'परस्परोपमा' अलंकार होता है।

प्रसिद्धे अन्यथा तयोः ॥११॥

विपरीतोपमा सा स्याद्

अर्थ : यदि उपमान और उपमेय के साधारण धर्मों की तुलना लोक-प्रचलित रीति के विरुद्ध की जावे तो 'विपरीतोपमा' अलंकार कहाता है।

व्यावृत्तेर्नियमोपमा।

अर्थ : जहाँ पर उपमेय का ही पृथक् महत्त्व स्थापन किया गया हो वहाँ नियमोपमा अलंकार होता है।

अन्यत्राप्यनुवृत्तस्तु भवेदनियमोपमा ॥१२॥

अर्थ : जहाँ उपमेय की वैशिष्ट्य स्थापना नियमित रूप से न हो वहाँ अनियमोपमा अलंकार होता है।

समुच्चयोपमाऽतोऽन्यधर्मबाहुल्य-कीर्तनात्।
बहोर्धर्मस्य साम्येऽपि वैलक्षण्यं विवक्षितम् ॥१३॥

अर्थ : जहाँ उपमान-उपमेय से भिन्न किसी वस्तु के धर्म की बहुलता का वर्णन हो वहाँ समुच्चयोपमा होती है। यहाँ बहु धर्मों का उल्लेख होते हुए वैचित्र्य अवश्य हो।

यदुच्यतेऽतिरिक्तत्वं व्यतिरेकोपमा तु सा।
यत्रोपमा स्याद्बहुभिः सदृशैः सा बहूपमा ॥१४॥

अर्थ : जहाँ उपमान अथवा उपमेय का उत्कर्ष बताया जावे वहाँ व्यतिरेकोपमा अलंकार होता है। अथवा जहाँ उपमेय का उत्कर्ष बताया जावे वहाँ व्यतिरेकोपमा अलंकार होता है।

जहाँ पर उपमेय की अनेक उपमानों के साथ उपमा दी जाती है वहाँ बहूपमा अलंकार होता है।

धर्मा: प्रत्युपमानं चेदन्या मालोपमैव सा।

अर्थ : जहाँ उपमेय की उपमा विभिन्न उपमानो के साधारण धर्म से की जाती है, वहाँ मालोपमा अलंकार होता है।

उपमानविकारेण तुलना विक्रियोपमा ॥१५॥

अर्थ : जहाँ उपमेय की तुलना उपमान के विकार से की जाती है वहाँ विक्रियोपमा अलकार होता है।

त्रैलोक्यासंभवि किमप्यारोप्य प्रतियोगिनि।
कविनोपमीयते या प्रथते साऽद्भुतोपमा ॥१६॥

अर्थ : जहाँ कवि उपमेय में किसी लोकातिशायी बात का आरोप कर के उसकी तुलना (उपमान के साथ) करता है वहाँ अद्भुतोपमा अलंकार होता है।

प्रतियोगिनमारोप्य तद्भेदेन कीर्तनम्।
उपमेयस्य सा मोहोपमाऽसौ भ्रान्तिमद्वचः ॥१७॥

अर्थ : जहाँ उपमेय में उपमान का आरोप कर के कवि दोनों का अभेद कर देता है वहाँ 'मोहोपमा' अलंकार होता है। यहाँ भ्रान्ति भी बनी रहनी चाहिये।

उभयोर्धर्मिणोस्तथ्यानिश्चयात्संशयोपमा ।
उपमेयस्य संशय्य निश्चयान्निश्चयोपमा ॥१८॥

अर्थ : जहाँ उपमेय और उपमान के सामान्य धर्मो का वास्तविक रूप से निश्चय न हो सके वहाँ सशयोपमा जबकि उपमेय के संशय को निश्चित होने को निश्चयोपमा अलंकार कहते हैं।

वाक्यार्थेनैव वाक्यार्थोपमा स्यादुपमानतः।

अर्थ : जहाँ उपमेय वाक्यार्थ की उपमान वाक्यार्थ के साथ तुलना की जावे वहाँ 'वाक्यार्थोपमा' अलंकार होता है।

आत्मोपमानादुपमाऽसाधारण्यतिशायिनी ॥१९॥

अर्थ : जहाँ उपमेय को उपमान बना दिया जाये और उसमें चमत्कारातिशय हो वहाँ असाधारणी उपमा होती है।

उपमेयं यदन्यस्य तदन्यस्योपमा मता।

अर्थ : जहाँ उपमेय किसी अन्य का (उपमान से विपरीत) दिखाया या वर्णित किया जावे वहाँ अन्योपमा अलकार होता है।

यद्युत्तरोत्तरं याति तदाऽसौ गगनोपमा ॥२०॥

अर्थ : यदि उपमा द्वारा उत्तरोत्तर उत्कर्ष का वर्णन हो तो उसे 'गगनोपमा' कहा जाता है।

प्रशंसा चैव निन्दा च कल्पिता सदृशी तथा।
किंचिच्चासदृशी ज्ञेया उपमा पञ्चधा पुनः ॥२१॥

अर्थ : पुनः उपमा के पाँच भेद होते हैं—प्रशंसा, निन्दा, कल्पिता, सदृशी तथा असदृशी।

उपमानेन यतत्वमुपमेयस्य रूप्यते।
गुणानां समतां दृष्ट्वा रूपकं नाम तद्विदुः ॥२२॥

उपमेव तिरोभूतभेदा रूपकमेव वा।

अर्थ : जहाँ गुणों की समता को देखकर उपमान से ही उपमेय का निरूपण कराया जाता है वहाँ रूपक अलंकार होता है, अथवा जहाँ उपमेय और उपमान में सादृश्य सम्बन्धी अभेद कहा जाता है उसे रूपक कहते हैं।

सहोक्तिः सहभावेन कथनं तुल्यधर्मिणाम् ॥२३॥

अर्थ : जहाँ उपमेय और उपमान के साधारण धर्म का सह भाव से (सह, साथ, संगति द्वारा) कथन या उल्लेख हो वहाँ सहोक्ति अलंकार होता है।

भवेदर्थान्तिरन्यासः सादृश्येनोत्तरेण सः।

अर्थ : जहाँ उत्तर (वाक्य) से सादृश्य दिखाया जाता है वहाँ अर्थान्तिरन्यास अलंकार होता है।

अन्यथोपस्थिता वृत्तिश्चेतनस्येतरस्य च ॥२४॥
अन्या मन्यते यत्र तामुत्प्रेक्षां प्रचक्षते।

अर्थ : जहाँ अन्य रूप में प्रस्तुत वृत्ति को जब अन्यरूप में कहा जाता है तो वहाँ उत्प्रेक्षा अलंकार होता है।

लोकसीमानिवृत्तस्य वस्तुधर्मस्य कीर्तनम् ॥२५।
भवेदतिशयो नाम संभवासंभवा द्विधा।

अर्थ : जहाँ किसी पदार्थ का लोक सीमातिशायी वर्णन हो वहाँ 'अतिशय' अलंकार होता है। इसके दो भेद है—सभव तथा असंभव।

गुणजातिक्रियादीनां यत्र वैकल्यदर्शनम् ॥२६॥

विशेषदर्शनायैव सा विशेषोक्तिरुच्यते।

अर्थ : जहाँ गुण, जाति, क्रिया, आदि में विकलता (परस्पर विरोध) दिखाया जाता है वहाँ विशेषोक्ति अलंकार होता है।

प्रसिद्धहेतुव्यावृत्त्या यत्किंचित्कारणान्तरम् ॥२७॥

यत्र स्वाभाविकत्वं वा विभाव्यं सा विभावना।

अर्थ : जहाँ किसी प्रसिद्ध कारण को हटा कर उसके स्थान पर कारणान्तर की स्थापना की जाती है, और उसे (कारणान्तर को) स्वाभाविकता प्रदान की जाती है, वहाँ विभावना अलंकार होता है।

संगतीकरणं युक्त्या यदसंगच्छमानयोः ॥२८॥

विरोधपूर्वकत्वेन तद्विरोध इति स्मृतम् ।

अर्थ : जहाँ परस्पर विरोधी वस्तुओं का विरोधात्मक रूप दिखा कर फिर युक्तिपूर्वक उनका संगतरूप दिखाया जावे वहाँ विरोध अलंकार होता है ।

सिसा (धा) धयिषितार्थस्य हेतुर्भवति साधकः ॥२९॥

कारको ज्ञापक इति द्विधा सोऽप्युपजायते ।
प्रवर्तते कारकाख्यः प्राक्पश्चात्कार्यजन्मनः ॥३०॥

पूर्वशेष इति ख्यातस्तस्योरेव विशेषयोः ।
कार्यकारणभावाद्वा स्वभावाद्वा नियामकात् ॥३१॥

अविनाभावनियमो ह्यविनाभावदर्शनात् ।
ज्ञापकाख्यस्य भेदोऽस्ति नदीपूरादिदर्शनम् ॥३२॥

अर्थ : अर्थ के साधक को हेतु कहते हैं । इसके दो भेद हैं—कारक तथा ज्ञापक ।

कारक नामक हेतु कार्य होने के पश्चात् उपस्थित किया जाता है, और ज्ञापक नामक हेतु कार्य-जन्म से पूर्व । उनका कार्य-कारण भाव से अथवा स्वाभाविक नियम से पूर्वकारक तथा शेष कारक नाम विख्यात है । अविना-भाव के दिखाने से, ज्ञापक हेतु का भेद अविनाभाव नियम ही है । यह अविनाभाव नियम नदी मे पूरादि दर्शन की तरह है । अर्थात् जिस प्रकार नदी का पूर (बाढ) वर्षा का ज्ञापक होता है वैसे ही यहाँ अविनाभाव नियम ।

नवम अध्याय

शब्दार्थालंकाराः

अग्निरुवाच :

शब्दार्थयोरलंकारो द्वावलंकुरुते समम् ।
एकत्र निहितो हारः स्तनं ग्रीवामिव स्त्रियाः ॥१॥

प्रशस्तिः कान्तिरौचित्यं संक्षेपो यावदर्थता ।
अभिव्यक्तिरिति व्यक्तं षड्भेदास्तस्य जाग्रति ॥२॥

(शब्दार्थालंकार)

अर्थ : अग्नि देवता ने कहा कि शब्दार्थालंकार (उभयालंकार) शब्द और अर्थ, दोनों को समानरूप से उस प्रकार अलंकृत करते हैं जिस प्रकार स्त्रियों के वक्ष का हार उरोजों के साथ-साथ उनके ग्रीवा-सौन्दर्य को भी वढ़ाता है। शब्दार्थालंकार के छः भेद स्वीकार किये गये है—प्रशस्ति, कान्ति, औचित्य, सक्षेप, यावदर्थता और अभिव्यक्ति ।

प्रशस्तिः परवन्मर्मद्रवीकरणकर्मणः ।
वाचोयुक्तिर्द्विधा सा च प्रेमोक्तिस्तुतिभेदतः ॥३॥

प्रेमोक्तिस्तुतिपर्यायौ प्रियोक्तिगुणकीर्तने ।

अर्थ : दूसरों के हृदय को द्रवित करने वाले कर्म को प्रशस्ति कहते हैं। प्रशस्ति कथन की शैली दो प्रकार की है—प्रेमोक्ति तथा स्तुति । प्रेमोक्ति और स्तुति यों तो समानार्थक शब्द हैं, (पर इनमें थोड़ा अन्तर अवश्य है) प्रिय के सम्बन्ध में सामान्य कथन को प्रेमोक्ति कहते हैं और उसके गुण-कीर्तन को स्तुति ।

संक्षेपो वाचकैरल्पैर्बहोरर्थस्य संग्रहः ।

अर्थ : जहाँ अल्प शब्दों से अधिक अर्थ की प्रतीति हो, वहाँ संक्षेप अलंकार होता है।

कान्तिः सर्वमतो रुच्यवाच्यवाचकसंगतिः ॥४॥

अर्थ: सब प्रकार से रुचिकर शब्द एवं अर्थ की संगति को 'कान्ति अलंकार' कहते हैं।

यथा वस्तु तथा रीतिर्यथा वृत्तिस्तया रसः।
ऊर्जस्विमृदुसंदर्भादौचित्यमुपजायते ॥५॥

अर्थ: जहाँ पर विषयानुकूल रीति, वृत्ति और रस का समावेश दिखाया जाये वहाँ 'औचित्य अलंकार' होता है। इसके दो भेद हैं—ऊर्जस्वी और मृदुसंदर्भ।

अन्यूनाधिकता शब्दवस्तुनोर्यावदर्थता ॥६॥

अर्थ: जहाँ शब्द और वर्ण्यवस्तु, दोनों को न न्यून और न अधिक रूप में प्रस्तुत किया जाय, वहाँ यावदर्थता अलंकार होता है।

प्रकटत्वमभिव्यक्तिः श्रुतिराक्षेप इत्यपि।
तस्या भेदौ, श्रुतिस्तत्र शाब्दं स्वार्थसमर्पणम् ॥७॥

भवेन्नैमित्तिकी पारिभाषिकी द्विविधैव सा।
संकेतः परिभाषेति ततः स्यात्पारिभाषिकी ॥८॥

मुख्यौपचारिकी चेति सा च सा च द्विधा द्विधा।
साभिधेयस्खलद्वृत्तिरमुख्यार्थस्य वाचकः ॥९॥

यया शब्दो निमित्तेन केनचित्सौपचारिकी।
सा च लाक्षणिकी गौणी लक्षणा गुणयोगतः ॥१०॥

अभिधेयाविनाभूतप्रतीतिर्लक्षणोच्यते ।
अभिधेयेन सम्बन्धात्सामीप्यात्समवायतः ॥११॥

वैपरीत्यात्क्रियायोगाल्लक्षणा पञ्चधा मता ।
गौणी गुणानामानन्त्यादनन्ता तद्विवक्षया ॥१२॥

अर्थ : भाव प्रकटीकरण का नाम अभिव्यक्ति है। इसके दो भेद हैं—श्रुति (शब्दस्वार्थ समर्पण) तथा आक्षेप। श्रुति (शब्दस्वार्थ समर्पण) के दो भेद है—नैमित्तिकी और पारिभाषिकी। परिभाषा संकेत को कहते हैं। संकेतित अर्थ प्रकट करने वाली अभिव्यक्ति पारिभाषिकी कहाती है। नैमित्तिकी के पुनः दो भेद हैं—मुख्या तथा औपचारिकी।

औपचारिकी अभिव्यक्ति वहाँ मानी गई है जहाँ किसी कारण विशेष से *अभिधेय (मुख्यार्थ) का स्खलन (बाध) हो जाये। तथा मुख्यार्थ से भिन्न* अर्थ के वाचक शब्द का ग्रहण हो। इस औपचारिकी के दो भेद हैं—लाक्षणिकी और गौणी।

लक्षणा की विशेषताओं के योग के कारण औपचारिकी अभिव्यक्ति वहाँ मानी गई है, जहाँ किसी कारण विशेष से अभिधेय (मुख्य) का स्खलन अर्थात् बाध हो जाए, तथा मुख्यार्थ से भिन्न अर्थ के वाचक शब्द का ग्रहण हो।

अन्यधर्मस्ततोऽन्यत्र लोकसीमानुरोधिना ।
सम्यगाधीयते यत्र स समाधिरिह स्मृतः ॥१३॥

अर्थ : जहाँ लोक मर्यादा के आग्रह से एक वस्तु का धर्म दूसरी वस्तु में सम्यक् प्रकार से वर्णित किया जाता है वहाँ 'समाधि' अलंकार कहा गया है।

श्रुतेरलभ्यमानोऽर्थो यस्माद्भाति सचेतनः ।
स आक्षेपो ध्वनिः स्याच्च ध्वनिना व्यज्यते यतः ॥१४॥

अर्थ : जहाँ कर्णेन्द्रिय द्वारा अप्राप्य जिस अन्य अर्थ की प्रतीति होती है वह आक्षेप का विषय है, इसे ध्वनि भी कहते हैं, क्योंकि इसकी प्रतीति ध्वनि (नामक काव्याङ्ग) से होती है।

शब्देनार्थेन यत्रार्थः कृत्वा स्वयमुपार्जनम् ।
प्रतिषेध इवेष्टस्य यो विशेषोऽभिधित्सया ॥१५॥

तमाक्षेपं ब्रुवन्त्यत्र स्तुतं स्तोत्रमिदं पुनः ।
अधिकारादपेतस्य वस्तुनोऽन्यस्य या स्तुतिः ॥१६॥

अर्थ : जहाँ शाब्दिक अर्थ से भाव ग्रहण करके भी किसी विशेष बात को कहने की इच्छा से उसका प्रतिषेध सा किया जाता है, उसे 'आक्षेप' अलंकार कहते हैं ।

अवर्णनीय विषय सामग्री का गुण कथन स्तुत अथवा स्तोत्र कहाता है ।

यत्रोक्तं गम्यतेऽन्योऽर्थस्तत्समानविशेषणः ।
सा समासोक्तिरुदिता संक्षेपार्थतया बुधैः ॥१७॥

अर्थ : जहाँ विशेषणों की समानता के बल पर कोई अर्थ किसी अन्य पर भी घटने लगे, इस संक्षेप के कारण ऐसे स्थलों में विद्वान् 'समासोक्ति' अलंकार कहते हैं ।

अपह्नुतिरपह्नुत्य किञ्चिदन्यार्थसूचनम् ।

अर्थ : जहाँ किसी अर्थ (बात) को छिपाकर अन्य अर्थ की सूचना दी जाये वहाँ 'अपह्नुति' अलकार होता है ।

पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते ॥१८॥
एषामेकतमस्येव समाख्या ध्वनिरित्यतः ॥१९॥

अर्थ : प्रकार विशेष (शैली विशेष) से कही गई बात को 'पर्यायोक्त' कहते हैं । इन प्रकारो में से एक प्रकार ध्वनि भी कहा गया है अथवा इन उपरोक्त अलंकारों को (श्रुति के भेदों को) सामूहिक रूप से ध्वनि भी कह सकते है ।

दशम अध्याय

काव्यगुणविवेकः

अग्निरुवाच :

अलंकृतमपि प्रीतये न काव्यं निर्गुणं भवेत् ।
वपुष्यललिते स्त्रीणां हारो भारायते परम् ॥१॥

(काव्यगुणविवेक)

अर्थ : अग्नि देवता ने कहा कि जिस प्रकार असुन्दर शरीर वाली नारियों के लिये रत्न-हार भार बन जाता है, इसी प्रकार माधुर्यादि गुणों से रहित काव्य अलंकृत होने पर भी आह्लादक नहीं होता ।

न च वाच्यं गुणो दोषाभाव एव भविष्यति ।
गुणाः श्लेषादयो दोषा गूढार्थाद्याः पृथक्कृताः ॥२॥

अर्थ : (भरत के अनुसार) गुणों का दोषाभाव रूप स्वीकृत करना युक्ति संगत नहीं है । (भरत स्वीकृत) श्लेष आदि (दश) गुण और गूढार्थ आदि (दश) दोष (अभावात्मक अथवा वैपरीत्य रूप में) परस्पर सम्बद्ध नहीं हैं ।

यः काव्ये महतीं छायामनुगृह्णात्यसौ गुणः ।
संभवत्येष सामान्यो वैशेषिक इति द्विधा ॥३॥

अर्थ : जो साधन काव्य में महती शोभा लाता है उसे गुण कहते हैं । इसके दो भेद हैं—सामान्य और विशेष ।

सर्वसाधारणीभूतः सामान्य इति मन्यते ।
शब्दमर्थमुभौ प्राप्तः सामान्यो भवति त्रिधा ॥४॥

अर्थ : सर्व प्रकार की रचना में प्राप्य गुण को सामान्य कहते हैं । इसके तीन भेद हैं—शब्दगुण, अर्थगुण तथा शब्दार्थ गुण ।

शब्दमाश्रयते काव्यं शरीरं यः स तद्गुणः ।
श्लेषो लालित्यगाम्भीर्ये सौकुमार्यमुदारता ॥५॥

सत्येव यौगिकी चेति गुणा. शब्दस्य सप्तधा ।

अर्थ : जो काव्य के शरीर रूप शब्द के आश्रित रहता है उसे शब्द गुण कहते हैं । इसके सात भेद हैं—श्लेष, लालित्य, गाम्भीर्य, सुकुमारता, उदारता, सत्य और यौगिकी ।

सुश्लिष्टसंनिवेशत्वं शब्दानां श्लेष उच्यते ॥६॥

अर्थ : शब्दों के सघन गुम्फन का नाम श्लेष है ।

गुणादेशादिना पूर्वपदसंवद्धमक्षरम् ।
यत्र संवीयते नैव तल्लालित्यमुदाहृतम् ॥७॥

अर्थ : जिस संदर्भ में (व्याकरण सम्बन्धी) गुण, आदेशादि के द्वारा पद में सम्बद्ध अक्षरो मे सन्धि नही की जाती, वह लालित्य गुण माना गया है ।

विशिष्टलक्षणोल्लेखलेख्यमुत्तानशब्दकम् ।
गाम्भीर्यं कथयन्त्यार्यास्तदेवान्येषु शब्दताम् ॥८॥

अनिष्टु (ष्ठु) राक्षरप्राया शब्दता सुकुमारता ।

अर्थ : गाम्भीर्य गुण उसे कहते हैं जिसमें शब्द तो उत्तान—सुगम हो, पर वर्ण्य विषय विशिष्ट चिह्न से समन्वित हो । इन विशिष्टताओं से रहित रचना कोरा शब्द जाल है । सुकोमल वर्ण योजना से युक्त शब्दावली में सुकुमार गुण माना गया है ।

उत्तानपादतौदार्यं युतं श्लाघ्यैर्विशेषणैः ॥९॥

अर्थ : श्लाघ्य विशेषणों से संवलित छिछले (ओज संयुक्त) पदों के प्रयोग में औदार्य गुण रहता है ।

ओजः समासभूयस्त्वमेतद् गद्यादिजीवितम् ।
आब्रह्म स्तम्बपर्यन्तमोजसैकेन पौरुषम् ॥१०॥

अर्थ : ओज गुण वहाँ होता है जहाँ समास का प्रयोग अधिक मात्रा में होता है। यह ओज गुण गद्य का प्राण है। ब्रह्म से लेकर तृण पर्यन्त समस्त पदार्थों का अस्तित्व ओज गुण पर आधृत है।

उच्यमानस्य शब्देन येन केनापि वस्तुनः ।
उत्कर्षमावहन्नर्थो गुण इत्यभिधीयते ॥११॥

माधुर्यं संविधानं च कोमलत्वमुदारता ।
प्रौढिसामयिकत्वं च तद्भेदाः षट् चकासति ॥१२॥

अर्थ : किसी भी प्रकार से प्रस्तुत किये गये विषय में यदि उत्कर्ष का निर्वाह किया गया हो तो ऐसे स्थल पर 'अर्थगुण' रहता है। माधुर्य, संविधान, कोमलता, उदारता, प्रौढ़ि, सामयिकत्व ये छः अर्थ गुण के भेद हैं।

क्रोधेर्ष्याकारगाम्भीर्यं माधुर्यं धैर्यगाहिता ।

अर्थ : क्रोध, ईर्ष्या आदि भावों की अवस्था के समान गम्भीरता का जहाँ अभाव हो और धैर्य का समावेश हो वहाँ माधुर्य गुण होता है।

संविधानं परिकरः स्यादपेक्षितसिद्धये ॥१३॥

अर्थ : इष्ट ध्येय की सिद्धि के लिये जहाँ अमानवीय शक्ति का प्रयोग हो, ऐसे संदर्भ में संविधान गुण होता है।

यत्काठिन्यादिनिर्मुक्तसंनिवेशविशिष्टता ।
तिरस्कृत्यैव मृदुता भाति कोमलतेति सा ॥१४॥

अर्थ : जो संदर्भ क्लिष्टता आदि से रहित होता है, जहाँ प्रयास पूर्वक शब्द नियोजन का त्याग किया जाता है और जिसमें मृदुता का समावेश रहता है, वहाँ कोमलता गुण होता है।

लक्ष्यते स्थूललक्षत्वप्रवृत्तेर्यत्र लक्षणम् ।
गुणस्य तदुदारत्वमाशयस्यातिसौष्ठवम् ॥१५॥

अर्थ : जिस रचना में प्रमुख रूप से स्थूल लक्ष्य को ही प्रकट करने की प्रवृत्ति रहती है, और (मूल वस्तु के) आशय का सौष्ठव स्पष्ट रहता है वहाँ 'उदारता' गुण होता है ।

अभिप्रेतं प्रतिहतं निर्वाहस्योपपादिकाः ।
युक्तयो हेतुगर्भिण्यः प्रौढा प्रौढिरुदाहृता ॥१६॥

अर्थ : जहाँ पर अभीष्ट अर्थ के विघातक तत्व के लिये प्रौढ़ तथा न्यायोचित युक्तियों का प्रयोग हो वहाँ पर 'प्रौढि गुण' कहा गया है ।

स्वतन्त्रस्यान्यतन्त्रस्य वा (बा) ह्यान्तःसमयोगतः ।
तत्र व्युत्पत्तिरर्थस्य या सामयिकतेति सः ॥१७॥

अर्थ : जहाँ स्वतन्त्र रूप से अथवा परतन्त्ररूप से अर्थों की बाह्य और आन्तरिक योग से व्युत्पत्ति दिखाई जाती है वहाँ 'सामयिकता' गुण होता है ।

शब्दार्थावुपकुर्वाणो नाम्नोभयगुणः स्मृतः ।
तस्य प्रसादः सौभाग्यं यथासंख्यं प्रशस्यता ॥१८॥

पाको राग इति प्राज्ञैः षट् प्रपञ्चविपञ्चिताः ।

अर्थ : शब्द और अर्थ के उपकार करने वाले गुणों को 'उभय गुण' कहा गया है । इसके छः भेद किये गये हैं—प्रसाद, सौभाग्य, यथासंख्य, प्रशस्ति, पाक और राग ।

सुप्रसिद्धार्थपदता प्रसाद इति गीयते ॥१९॥

अर्थ : जहाँ अति प्रसिद्ध अर्थों वाली पदावली का प्रयोग हो वहाँ प्रसाद गुण रहता है ।

उत्कर्षवान्गुणः कश्चिद्यस्मिन्नुक्ते प्रतीयते ।
तत्सौभाग्यमुदारत्वं प्रवदन्ति मनीषिणः ॥२०॥

अर्थ : जिस उक्ति में किसी उत्कर्ष युक्त गुण का समावेश प्रतीत होता है उसे सौभाग्य गुण कहते है। मनीषी इसे उदारता भी कहते हैं।

यथासंख्यमनुद्देशः सामान्यमतिदिश्यते ।

अर्थ : सामान्य रूप से प्राप्त गुण को यथासंख्य कहा गया है।

समये वर्णनीयस्य दारुणस्यापि वस्तुनः ॥२१॥

अदारुणेन शब्देन प्राशस्त्यमुपवर्णनम् ।

अर्थ : यथा समय वर्णनीय कठोर विषय का वर्णन जब कोमल शब्दों से किया जाता है तो वहाँ 'प्राशस्त्य गुण' होता है।

उच्चैः परिणतिः काऽपि पाक इत्यभिधीयते ॥२२॥

मृद्वीकानारिकेलाम्बुपाकभेदाच्चतुर्विधः ।

आदावन्ते च सौरस्यं मृद्वीकापाक एव सः ॥२४॥

अर्थ : जहाँ वर्ण्य विषय की उत्तम परिणति हो वहाँ 'पाकगुण' कहा जाता है। पाक के चार भेद हैं : मृद्वीकपाक, पाक, नारिकेल पाक और अम्बु पाक। जहाँ आरम्भ में तथा अन्त में सरसता रहती है वहाँ 'मृद्वीकपाक' होता है।

काव्येच्छया विशेषो यः स राग इति गीयते ।

अभ्यासोपहितं कान्ति सहजामपि वर्तते ॥२५॥

हारिद्रश्चैव कौसुम्भो नीलीरागश्च स त्रिधा ।

अर्थ : काव्य परम्परानुसार विशेषरूप से प्राप्त गुण राग कहाता है। इसमें स्वभाविक कान्ति विद्यमान रहती है। हारिद्र, कौसुम्भ और नीलीराग ये इसके तीन भेद हैं।

वैशेषिकः परिज्ञेयो यः स्वलक्षणगोचरः ॥२६॥

अर्थ : जो गुण किसी विशेष रचना में व्यक्तिगत रूप से रहें, वैशेषिक गुण कहाते हैं।

एकादश अध्याय

काव्यदोषविवेकः

अग्निरुवाच :

उद्वेगजनको दोषः सभ्यानां स च सप्तधा ।
वक्तृवाचकवाच्यानामेकद्वित्रिनियोगतः ॥१॥

तत्र वक्ता कविर्नाम प्रथमे स च भेदतः ।
संदिहानोऽविनीतः सन्नज्ञो ज्ञाता चतुर्विधः ॥२॥

(काव्यदोषविवेचन)

अर्थ : अग्नि देवता ने कहा कि सहृदयों के हृदय को उद्विग्न (विक्षोभित) करने वाला तत्व काव्य दोष कहाता है और वह वक्तृ, वाचक और वाच्य के भेद से सात प्रकार का होता है ।

प्रथम प्रकार का वक्तृ दोष कवि की ओर से ही होता है । इसके चार भेद हैं—सदिहान, अविनीत, सन्नज्ञ तथा ज्ञाता ।

निमित्तपरिभाषायामर्थसंस्पर्शीवाचकम् ।
तद्भेदौ पदवाक्ये द्वे कथितं लक्षणं द्वयोः ॥२॥

अर्थ : निमित्त की परिभाषा में अर्थ का संस्पर्श देने वाले को वाचक दोष कहते हैं । इसके दो भेद हैं—पद और वाक्य ।

असाधुत्वाप्रयुक्तत्वे द्वावेव पदनिग्रहौ ।
शब्दशास्त्रविरुद्धत्वमसाधुत्वं विदुर्बुधाः ॥४॥

व्युत्पन्नैरनिवद्धत्वमप्रयुक्तत्वमुच्यते ।

अर्थ : असाधुत्व और अप्रयुक्तत्व ये दो दोष पद के अन्तर्गत आते हैं ।

शब्द शास्त्र अर्थात् व्याकरण की विरुद्धता को विद्वान् असाधुत्व दोष कहते हैं ।

विद्वानों से अरचित प्रयोग को अप्रयुक्तत्व दोष माना गया है, अर्थात् कवियों ने जिसका प्रयोग न किया हो।

छान्दसत्वमविस्पष्टत्वं च कष्टत्वमेव च ॥५॥
तदसामयिकत्वं च ग्राम्यत्वं चेति पञ्चधा।

अर्थ : ये पाँच काव्य दोष हैं—छान्दसत्व, अविस्पष्ट, असामयिकत्व तथा ग्राम्यत्व।

छान्दसत्वं न भाषायामविस्पष्टमबोधतः ॥६॥

गूढार्थता विपर्यस्तार्थता संशयितार्थता।
अविस्पष्टार्थता भेदाः

अर्थ : छान्दसत्व दोष वहाँ होता है जहाँ कोई ऐसा प्रयोग दिखाई दे जो केवल वैदिक साहित्य में ही प्रयुक्त होता हो। भाषा अर्थात् लौकिक साहित्य में उसका प्रयोग न होता हो।

शब्द के अर्थ का अबोध अविस्पष्ट दोष कहाता है इसके तीन भेद हैं—गूढार्थता, विपर्यस्तार्थता, संशयितार्थता।

तत्र गूढार्थतेति सा ॥७॥

यत्रार्थो दुःखसंवेद्यो

अर्थ : गूढार्थता दोष वहाँ होता है जहाँ किसी शब्द के अर्थ का ज्ञान कष्ट साध्य हो।

विपर्यस्तार्थता पुनः।
विवक्षितान्यशब्दार्थप्रतिपत्तिमलीमसा ॥८॥

अर्थ : जहाँ पर अभीष्ट अर्थ से विपरीत किसी अन्य अर्थ की धुंधली सी अथवा अस्पष्ट प्रतीति हो वहाँ विपर्यस्तार्थता दोष होता है।

अन्यार्थत्वासमर्थत्वे एतामेवोपसर्पतः।
संदिह्यमानवाच्यत्वमाहुः संशयितार्थताम् ॥९॥

अर्थ : जहाँ वास्तविक अर्थ की जानकारी न हो सके और पाठक दो अर्थों की संदेहजन्य द्विविधा में ही रह जाये वहाँ संशयितार्थता दोष होता है।

दोषत्वमनुबध्नाति सज्जनोद्वेजनादृते।
असुखोच्चार्यमाणत्वं कष्टत्वं

अर्थ : जहाँ सहृदयों के अतिरिक्त अन्य व्यक्तियों को उच्चारण (किसी शब्द विशेष का) में कष्ट हो, वहाँ कष्ट से उच्चरित होने के कारण कष्टत्व दोष होता है।

समयाच्युतिः ॥१०॥

असामयिकता नेयामेतां च मुनयो जगुः।

अर्थ : कवि परम्परा के विरुद्ध कही गई बात को साहित्यशास्त्रियों ने असामयिकता दोष माना है।

ग्राम्यता तु जघन्यार्थप्रतिपत्तिः खलीकृता ॥११॥

वक्तव्यग्राम्यवाच्यस्य वचनात्स्मरणादपि।
तद्वाचकपदेनाभिसाम्याद्भवति स त्रिधा ॥१२॥

अर्थ : ग्राम्यता दोष वहाँ होता है जहाँ किसी शब्द से जघन्य अर्थात् जुगुप्सित अर्थ का आभास हो। इसके तीन भेद हैं—

१. ग्रामीण के वचन का कथन।

२. अन्य वचन से उस कथन का स्मरण।

३. तत्कथन का तद्वत् प्रयोग।

दोषः साधारणः प्रातिष्ठिकोऽर्थस्य स तु द्विधा।
अनेकभागुपालम्भः साधारण इति स्मृतः ॥१३॥

क्रियाकारकयोर्भ्रंशो विसंधिः पुनरुक्तता।
व्यस्तसंबन्धिता चेति पञ्च साधारणा मता ॥१४॥

अर्थ : अर्थ दोष (वाच्य दोष) दो प्रकार के होते हैं—साधारण और प्रातिष्ठिक। सर्वत्र प्रचलित उपालम्भ साधारण दोष कहाता है। इसके पाँच भेद है। क्रियाभ्रंश, कारकभ्रंश, विसंधि, पुनरुक्तता और व्यस्त-संबन्धिता।

अक्रियत्वं क्रियाभ्रंशो भ्रष्टकारकता पुनः।
कर्त्रादिकारकाभावो

अर्थ : जहाँ पर क्रिया का अभाव हो वहाँ अक्रियत्व और जहाँ कर्तादि कारक का अभाव होता है वहाँ 'कारकभ्रंश' दोष होता है।

विसंधिः संधिदूषणम् ॥१५॥

विगतो वा विरुद्धो वा संधिः स भवति द्विधा।
संधेर्विरुद्धता कष्टमपदार्थान्तरागमात् ॥१६॥

अर्थ : सन्धि दोष को विसन्धि कहते है। इसके दो भेद हैं—सन्धि का अभाव और विरुद्धसंधि। विरुद्धसधि वहाँ होती है जहाँ अन्य पदार्थ के आगमन से अर्थ ज्ञान मे कष्ट हो।

पुनरुक्तत्वमाभीक्ष्ण्यादभिधानं द्विधैव तत्।
अर्थावृत्तिः पदावृत्तिरर्थावृत्तिरपि द्विधा ॥१७॥

प्रयुक्तवरशब्देन तथा शब्दान्तरेण च।
नाऽऽवर्तते पदावृत्तौ वाच्यमावर्तते पदम् ॥१८॥

अर्थ : वस्तु का पुनः पुनः कथन पुनरुक्त दोष कहाता है। इसके दो भेद हैं—पदावृत्ति तथा अर्थावृत्ति। अर्थावृत्ति के भी दो भेद है—वर (उचित) शब्द की आवृत्ति से तथा शब्दान्तर (अन्य शब्द) की आवृत्ति से। शब्दावृत्ति में शब्द की आवृत्ति होती है और अर्थावृत्ति मे अर्थ की।

व्यस्तसंबन्धता सुष्ठु संबन्धो व्यवधानतः।
संबन्धान्तरनिर्भासात्संबन्धान्तरजन्मनः ॥१९॥

अभावेपि तयोरन्तर्व्यवधानात् त्रिधैव सा ।
अन्तरा पदवाक्याभ्यां प्रतिभेदं पुनर्द्विधा ॥२०॥

अर्थ : जहाँ पर सुन्दर संवन्ध के निर्वाह में वाधा हो वहाँ व्यस्त-संवन्धता दोप होता है। इसके तीन भेद हैं,—अन्यसंबन्ध का आभास, अन्य संवन्ध का जन्म, इन दोनों के न होने पर भी अर्थ ज्ञान मे वाधा। पद और वाक्य में होने के कारण पुनः प्रत्येक भेद के दो-दो भेद होते हैं।

[वाच्यमर्थार्थ्यमानत्वात्तद् द्विधा पदवाक्ययोः ।
व्युत्पादितं पूर्ववाच्यं व्युत्पाद्यं चेति भिद्यते ॥२१॥

अर्थ : अर्थ में प्रयोजनीय होने से वाक्य दोप दो प्रकार का होता है—पद दोष तथा तथा वाक्य दोप। पद दोष व्युत्पादित होता हे अर्थात् उच्चारण मात्र से प्रतीत हो जाता है जवकि वाक्य दोप का ज्ञान व्युत्पाद्य अर्थात् व्युत्पत्ति करने पर ही ज्ञात होता है।

इष्टव्याघातकारित्वं हेतोः स्यादसमर्थता ।

अर्थ : जहाँ ईप्सित अर्थ मे वाधा पहुँचाने वाला कोई कारण हो वहाँ असमर्थता दोप होता है।

असिद्धत्वं विरुद्धत्वमनैकान्तिकता तथा ॥२२॥
एवं सत्प्रतिपक्षत्वं कालातीतत्वसंकरः ।
पक्षे सपक्षे नास्तित्वं विपक्षेऽस्तित्वमेव तत् ॥२३॥
काव्येषु परिपद्यानां न भवेदप्यरुन्तुदम् ।
एकादश निरर्थत्वं दुष्करादौ न दुष्यति ॥२४॥]

दोषों का परिमार्जन

अर्थ : असिद्धत्व, विरुद्धत्व, अनेकान्तिकता, सत्प्रतिपक्षत्व, कालातीतसंकर, पक्ष-सपक्ष नास्तित्व, विपक्ष अस्तित्व (ये सब 'हेतु'[1] अलंकार के भेद

---

१. न्याय मुक्तावली ७१. ७२ पृष्ठ पर हेतु प्रकरण में देखें।

है) दोष, काव्य में प्रतिपादित होने पर विशेष मनस्ताप विधायक नहीं होते। दुष्कर (समासादि के कठिन स्थलों पर) आदि में ग्यारह प्रकार का निरर्थत्व (जिसमें निरर्थक शब्द होते हैं) भी दोष नही रहता।

दुःखीकरोति दोषज्ञान्गूढार्थत्वं न दुष्करे।
न ग्राम्यतोद्वेगकारी प्रसिद्धेर्लोकशास्त्रयोः ॥२५॥

क्रियाभ्रंशेन लक्ष्मास्ति क्रियाध्याहारयोगतः।
भ्रष्टकारकताक्षेपबलाध्याहृतकारके ॥२६॥

अर्थ : दुष्कर स्थल में गूढार्थता दोष नही रहती। लोक में तथा शास्त्र में प्रसिद्ध ग्राम्यता भी उद्वेगकारी नही होती। क्रियाभ्रंश में क्रिया के अध्याहार करने से वह दोष नही रहता।

आक्षेप के बल से जहाँ कारक का अध्याहार हो वहाँ भ्रष्टकारकता दोष नही रहता।

प्रगृह्यते गृह्यते नैव क्षतं विगतसंधिना।
कष्टपाठाद्विसंधित्वं दुर्वचादौ न दूषणम् ॥२७॥

अनुप्रासे पदावृत्तिर्व्यस्तसम्बन्धिता शुभा।

अर्थ : विगतसंधिता से भी कोई विशेष हानि नही होती। दुर्वच आदि में कठिन पाठ के कारण 'विसंधिता' भी दोष नही रहती। अनुप्रास में पदावृत्ति के कारण व्यस्तसम्बन्धिता दोष भी शुभ माना गया है।

नार्थसंग्रहणे दोषो व्युत्क्रमाद्यैर्न दिष्यते ॥२८॥

विभक्तिसंज्ञालिङ्गानां यत्रोद्वेगो न धीमताम्।
संख्यायास्तत्र भिन्नत्वमुपमानोपमेययोः ॥२९॥

अर्थ : अर्थ संग्रहण काल में व्युत्क्रमादि दोष दोष नही रहता। जहाँ

उपमान और उपमेय का लिंग पृथक्-पृथक् हो वहाँ विभक्ति दोष, संख्या दोष, लिंग दोष उद्वेग कारक नहीं माना गया है।

अनेकस्य तथैकेन बहूनां बहुभिः शुभा।

अर्थ : अनेक व्यक्तियों का एक बात को कहना अथवा बहुतों का बहुत बार कहना भी शुभ होता है।

कवीनां समुदाचारः समयो नाम गीयते ॥३०॥

सामान्यश्च विशिष्टश्च धर्मवद्भवति द्विधा।

सिद्धसैद्धान्तिकानां च कवीनां वा विवादतः ॥३१॥

यः प्रसिध्यति सामान्य इत्यसौ समयो मतः।
सर्वे सैद्धान्तिका येन संचरन्ति निरत्ययम् ॥३२॥

क्रियन्त एव वा येन सामान्यस्तेन स द्विधा।

अर्थ : कवियो का समुदाचार समय कहाता है, इसके दो भेद हैं—सामान्य और विशेष। सफल सैद्धान्तिको के अथवा कवियों के विवाद के परिणाम स्वरूप जो प्रसिद्ध होता है उसे सामान्य समय (कविख्याति) कहते हैं। इस सामान्य समय के पुनः दो भेद होते हैं, एक तो वह जिसका अनुसरण सब सैद्धान्तिक बिना किसी संकोच के करते हैं और दूसरा वह जिसका अनुसरण कतिपय सैद्धान्तिक ही करते हैं।

छेदसिद्धान्ततोऽन्यः स्यात्केषांचिद् भ्रान्तितो यथा ॥३३॥

तर्कज्ञानं मुनेः कस्य कस्यचित्क्षणभङ्गिका।
भूतचैतन्यता कस्य ज्ञानस्य सुप्रकाशता ॥३४॥

प्रज्ञातस्थूलता शब्दानेकान्तत्वं तथार्हतः।

अर्थ : एक अन्य छेद सिद्धान्त है जैसा कि कुछ व्यक्तियों ने भ्रान्तित किया है। किसी मुनि का तर्कज्ञान, किसी मुनि का क्षण-भंगुर सिद्धान्त, किसी

को भूत चैतन्यता और किसी की स्वप्रकाशता, और किसी की प्रज्ञात स्थूलता, किसी का शब्दानेकत्व आदि। अर्थात् कोई मुनि तो जगत् में तर्क को ही प्रधान मान कर चलता है और कोई इसे क्षणिक समझता है। कोई प्राणि चैतन्य को स्वीकार करता है तो कोई जगत् को अपने आप में प्रकाशमान मानता है, कोई इस स्थूल संसार को ही सब कुछ समझता है। कोई अर्हत् (जैनागम) जगत् को शब्द रूप ही समझते हैं।

शैववैष्णवशाक्तेयसौरसिद्धान्तिनां मतिः ॥३५॥

जगतः कारणं ब्रह्म सांख्यानां सप्रधानकम्।
अस्मिन्सरस्वतीलोके संचरन्तः परस्परम् ॥३६॥

बध्नन्ति व्यतिपश्यन्तो यद्विशिष्टः स उच्यते।
परिग्रहादप्यसतां सतामेवापरिग्रहात् ॥३७॥

भिद्यमानस्य तस्यायं द्वैविध्यमुपगीयते।
प्रत्यक्षादिप्रमाणैर्यद् बाधितं तदसद्विदुः ॥३८॥

कविभिस्तत्प्रतिग्राह्यं ज्ञानस्य द्योतमानता।
यदेवार्थक्रियाकारि तदेव परमार्थसत् ॥३९॥

अज्ञानाज्ज्ञाततत्वे च ब्रह्मैव परमार्थसत्।

अर्थ : शैव, वैष्णव, शाक्त तथा सौर सैद्धान्तिकों के मत से इस संसार का कारण ब्रह्म है जबकि सांख्य इस जगत् को प्रकृति निर्मित मानते हैं।

इस काव्य-जगत् में जो नियम परस्पर व्यवहार काव्याचार द्वारा बनता है उसे विशिष्ट समय कहा गया है। असज्जनों के ग्रहण से तथा सज्जनों के परित्याग से इसके दो भेद होते हैं—प्रत्यक्षादि प्रमाणो से जो बंधा होता है उसे असत् और कवियों द्वारा प्रतिगृहीत सत्। ब्रह्म का परमार्थ सत् दो तत्वों में विभक्त है—अज्ञान तत्व और अज्ञात तत्व .....।

विष्णुः सर्गादिहेतुः स शब्दालंकाररूपवान् ॥४०॥
अपरा च परा विद्या तां ज्ञात्वा मुच्यते भवात् ॥४१॥

अर्थ : सृष्टि का आदि कारण विष्णु है, वही शब्द और अलंकार रूप है। जगत् में अपरा (अप्रत्यक्ष) परा (प्रत्यक्ष) ये दो विद्यायें होती हैं। इन्हें जानकर ही व्यक्ति संसार से मुक्त हो जाता है।

—:०:—

परिशिष्ट

सहायक ग्रन्थ सूची

इङ्गलिश

१. एन्शियंट इण्डियन हिस्टोरिकल ट्रेडीशन —डॉ० एफ० ई पार्जिटर
२. हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर —डॉ० मेक्डोनल
३. ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर —डॉ० विटर नित्ज़
४. हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर —श्री वरदाचार्य
५. संस्कृत पोइटिक्स —डॉ० एस० के० डे
६. अग्नि पुराण (इङ्गलिश अनुवाद) —श्री एम० एन० दत्त
७. स्टडीज इन दि पौराणिक रेकार्ड्स ऑन हिन्दू रीतीज एण्ड कस्टम्स —डॉ० हाज़रा
८. साहित्य दर्पण की भूमिका —पी० वी० काणे

संस्कृत

१. काव्य प्रकाश —मम्मट
२. साहित्य दर्पण —विश्वनाथ
३. दशरूपक —धनंजय
४. काव्यादर्श —दण्डी
५. काव्यालंकार —भामह
६. सरस्वती कण्ठाभरण —भोजराज

हिन्दी

१. संस्कृत साहित्य का इतिहास —बलदेव प्रसाद उपाध्याय
२. संस्कृत साहित्य का इतिहास —कन्हैयालाल पोद्दार

पत्रिका

१. माधुरी, अगस्त १९४१, काव्य-शास्त्र का आदि स्रोत
—चन्द्रकांत बाली

कोष

१. भरत कोष —एम० राम कृष्ण कवि

२. साहित्य शास्त्र का परिभाषिक कोष —श्री राजेन्द्र द्विवेदी

—:०:—